UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178725

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83·1 J83B Accession No. P. G. H2248

Author जोशी, शोभाचन्द्र.

Title शुद्धिहीन · 1951.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज

बुद्धि-हीन

(एक सामाजिक कहानी)

लेखक—
पं० शोभाचन्द्र जोशी, बी० ए०

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई नं० ४.

पहलीबार
फरवरी, १९५१

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस,
गिरगाँव, बम्बई

स्वर्गीया जननीको

प्राक्कथन

'बुद्धिहीन' प्रस्तुत है।

'यथा नाम तथा गुणः'—यह पुरातन सूक्ति इस पुस्तकपर अथवा इसके लेखकपर कितनी चरितार्थ होती है, इसका निर्णय करना उन लोगोंपर निर्भर है जिनकी कृपा प्राप्त करनेके लिए इसका निर्माण हुआ है।

इसके अतिरिक्त कहनेको कुछ है ही नहीं।

टीकमगढ़ (वि० प्र०)
१८-१-५१

शोभाचन्द्र जोशी

बुद्धि-हीन

एक प्रसिद्ध तम्बाकू-कम्पनीका एजेण्ट हूँ। जो लोग बीड़ी, सिगरेट या चुरट किसी भी रूपमें उसका सेवन नहीं करते, उन्हींमें अधिक प्रचार करना मेरा कर्तव्य है। जिस प्रकार बौद्धोंके भगवान बुद्ध, जैनोंके महावीर, सनातन हिन्दुओंके शंकराचार्य अधिष्ठाता माने जाते हैं, उसी प्रकार हम लोग सर वाल्टर रैलेको अपना पैगम्बर समझते हैं। आजसे ढाई-सौ वर्ष पूर्व अमरीकाके जंगलियोंसे सीखकर वाल्टर रैलेने सभ्य संसारमें धूम्रपानका प्रचार किया था। इस पवित्र कर्त्तव्यके पालनमें मुझे निरन्तर भ्रमण करना पड़ता है। उत्तरी हिन्दुस्तान मेरा क्षेत्र है। उस दिन मैं हावड़ासे देहरादून जा रहा था। लम्बी यात्रा थी। डयौढ़े दर्जेमें बिस्तर लगाकर लेटा हुआ था। बनारस केण्टपर एक व्यक्ति उसी डिब्बेमें चढ़ा, और मेरा कन्धा हिलाकर बोला—"महाशयजी, अनुमति दें तो मैं भी यहीं आपके साथ बैठ जाऊँ।" स्वरमें

नम्रता थी। दूसरे यात्रियोंकी भाँति कलहकी स्वाभाविक ध्वनि उसमें नहीं थी। सभ्यताके नाते विवश होकर कहना पड़ा—"बैठिए, मेरी अनुमतिकी क्या आवश्यकता है!" मैं स्वयं उठकर बैठ गया। निकटसे उसका चेहरा देखा तो विस्मय हुआ। लगा, मनोहर है। पूछा,—"मनोहर हो?" वह भी पहचान गया और मुसकराने लगा।

आज कई वर्षोंके उपरान्त हम मिले थे। मैं और मनोहर दोनों बी० ए० में साथ ही पढ़ते थे। उत्तीर्ण होनेके उपरान्त बिछुड़ गए। मैं तम्बाकू बेचने लगा, और उसके विषयमें सुना कि बनारसमें किसी दफ्तरका सुपरिण्टेण्डेण्ट बन गया है।

कालिजमें उसका मित्र कहनेको अकेला मैं ही था। मनोहर उन व्यक्तियोंमेंसे है, जिन्हें मनोवैज्ञानिक भाषामें अहंवादी कहते हैं। किसीसे भी उसकी पटती नहीं थी। आये दिन प्रोफेसरोंसे झगड़ा होता। दूसरे लड़के उसकी झगड़ालू प्रकृतिको मनोविनोदका साधन बनाए हुए थे। उसे चिढ़ानेके नए-नए उपाय प्रतिदिन सोचे जाते। मुझे मनोहर जैसे व्यक्तियोंमें विशेष दिलचस्पी थी। समाजमें जो लोग मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे असामान्य समझे जाते हैं, उनका सूक्ष्म अध्ययन करनेमें मुझे बड़ा आनन्द आता है। एजेण्ट बननेके पीछे मेरा यह भी उद्देश्य था। यात्राओंमें अनेकों प्रकारके व्यक्तियोंसे सम्पर्क होने और उन्हें समझनेका अवसर प्राप्त होता है। इसी कारण कालिजके दिनोंमें मनोहरके साथ मेरी पटरी ठीक बैठती थी।

आज एकाएक उसे देखकर उत्सुकता जाग उठी। एक तो कालिजका सहपाठी, दूसरे मनोवैज्ञानिक अध्ययनका बढ़िया

विषय। इधर उधरके समाचार और कुशलप्रश्न करनेके उपरान्त मैंने पूछा—

"क्या बनारसमें ही कहीं कुछ काम करते हो?"

बोला,—"हाँ, काम करता था। आज नौकरी छोड़ कर घर जा रहा हूँ।"

उसकी प्रकृतिका स्मरण आनेपर मैंने पूछा—"अफसरोंसे झगड़ा हुआ होगा?"

"नहीं। स्वयं ही छोड़कर आ रहा हूँ।"

मैं देख रहा था कि उसमें इधर बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। मेरी और उसकी अवस्थामें दो-एक वर्षका अन्तर था। मैं बत्तीस हूँ, वह तीस या उन्तीस होगा। किन्तु उसके बाल पकने लगे थे। चेहरेपर मुस्कराते समय झुर्रियाँ पड़ जाती थीं। उसका स्वभाव पहिले बड़ा कटु था। स्मरण नहीं होता कि कालिजमें उसे कभी हँसते या मुस्कराते देखा हो। आज वह बड़ा गम्भीर और मृदु लग रहा था। मुस्कराकर बातें करता था। परन्तु उसकी हँसीके नीचे एक प्रकारकी वेदना-सी दबी हुई प्रतीत होती थी। सम्भव है कि मेरी भूल हो, किन्तु इससे मेरी उत्सुकता और भी अधिक बढ़ गई। मैंने पूछा—"क्या नौकरी थी?"

"रेलके दफ्तरमें सुपरिण्टेण्डेण्ट था।"

"वेतन?"

"पौने दो सौ।"

"विवाह हो गया, या अभी कुँआरे ही हो?"

इस प्रश्नपर वह विचलित हो उठा। मानसिक वेदनाकी स्पष्ट रेखाएँ उसकी आँखोंके चारों ओर खिंच गईं। मेरा अनुमान मिथ्या नहीं था। मनोहर दुखी मनुष्य है। किसी अप्रत्याशित घटनासे उसकी जीवन-धारा समूची ही परिवर्तित हो गई है। बात बातपर झगड़ा मोल लेनेकी प्रवृत्ति, कटुता और अहंभाव – इनका लेश भी अब नहीं दिखाई देता था।

बोला—" विवाह ?....नहीं....आज तक तो नहीं किया। अब सोचता हूँ शीघ्र ही कहीं न कहीं कर डालूँ।"

" तो नौकरी व्यर्थमें छोड़ी। अच्छी खासी तनखा मिल रही थी।"

रेलगाड़ी चलने लगी। वह थोड़ी देर खिड़कीसे बाहर झुककर एकटक कुछ देखता रहा। मानो चिन्तन कर रहा हो। गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ चुकी तो कहने लगा—" इसके पीछे एक बड़ी दर्दनाक कहानी है। तुम मित्र हो। तुमसे नहीं छिपाऊँगा।"

उसने जो कुछ कहा, जहाँ तक स्मरण हैं, मैं उसीके शब्दोंमें दुहराए देता हूँ। पढ़ा-लिखा व्यक्ति है मनोहर, और उच्च-कोटिका भावुक अतएव उसके विवरणमें साहित्यिकता तो है, किन्तु कहीं कहीं बड़े भावुक स्थल भी आ गए हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनोहर अनन्यसाधारण मनुष्य है; यह समझ कर मैंने कोई रद्दोबदल नहीं किया। क्यों कि कहानीमें अस्वाभाविकता आ जाती, और मनोहरका यथार्थ चित्र भी न बन पाता।

" बनारसमें रहते हुए मुझे दस वर्ष हो गए हैं। बी० ए० पास करते ही रेलवे आफिसमें नियुक्त हो गया था। बहुतोंने राय दी

कि ट्रेनिंग कर लूँ और कहीं अध्यापक बन जाऊँ। किन्तु वह मेरे स्वभावके विपरीत था। तुम तो जानते ही हो। अध्यापकीके लिए ऐसे व्यक्तिकी आवश्यकता होती है, जो दूसरोंके हितमें अपने व्यक्तित्व और अहंभावको नष्ट कर सके। कालिजमें तुम कई बार समझा भी चुके थे कि कभी इस विचित्र स्वभावके कारण मुझे पछताना पड़ेगा। मुझे तो स्वयं आश्चर्य है कि मैं एक ही आफिसमें दस वर्ष कैसे रह सका।

आजसे तीन साल पहिले माँका स्वर्गवास हो गया। पिताजी बचपनमें ही चल बसे थे। भाई-बहिन कोई थे नहीं। अपत्र ठूँठकी भाँति इस विशाल संसारमें मैं अकेला रह गया था। मरती बार माँने विवाहकी बात चलाई। लड़कीके पिता मुझे देखने बनारस आये। मैं उनसे झगड़ पड़ा। बात बिगड़ गई। माँने डाँट-फट-कारका पत्र भेजा। लिखा, जीवनका एक बड़ा अवसर मैंने खो दिया है। लड़की बड़े धनी घरानेकी थी। पढ़ी-लिखी और दिखाई-लिखाईमें सुन्दर। माँके पत्रसे एक बात हुई। धनी घरानेमें सम्बन्ध न होनेका दुःख मुझे नहीं था। किन्तु विवाहकी बात टूट जानेसे मुझे ग्लानि अवश्य हुई।

फिर विवाहका प्रसंग कभी नहीं छिड़ा। मेरे था ही कौन जो बात उठाता। कभी कभी अकेलेमें सोचता कि स्वयं ही ढूँढ़कर किसी लड़कीसे शादी कर लूँ। सिविल मैरेज ही सही। जाति-पाँतिका प्रश्न मेरे लिए निरर्थक था। मन-ही-मन कुछ ऐसा लगता कि विवाह करनेकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता है। तुम्हें कैसे समझाऊँ कि मैं क्या सोचता था? स्त्रियाँ मुझे सर्वदा एक विराट् रहस्य-सी प्रतीत होती थीं। उनसे डर लगता। उनके

सान्निध्यसे बचनेकी इच्छा होती। किन्तु फिर भी किसी एकके निकट रहनेकी उत्कंठा जाग उठी थी। यह दिनों-दिन बढ़ने लगी। माँके जीवित रहते ही क्यों मैंने विवाह नहीं कर लिया, यह सोच-सोचकर हृदयमें कसक उठने लगती। माँने तब उस लड़कीका एक फोटोग्राफ मेरे पास भेजा था। बार-बार उसीको निकालकर देखने लगता। चित्रकी आँखोंमें आँखें डालकर सोचता, बुरा क्या था यदि यही मिल जाती!

तुम मुस्करा रहे हो। कालिजमें तुमने मेरे इस रूपको नहीं देखा है। नारी-जातिके प्रति मुझे सदा एक प्रकारकी झिझक-सी, झेंप-सी रही है। कालिजकी लड़कियोंसे मैं इसीलिए कोसों दूर रहा करता था। तुम लोग मुझे चिढ़ानेके लिए भीष्म-पितामह, बजरंग-बली, और न जाने क्या क्या कहा करते थे। मैं चिढ़ जाता। उसका कारण कि मेरी वह झेंप जिस प्रकार स्वाभाविक थी—दिखावटी नहीं—उसी प्रकार स्त्रियोंके प्रति एक विचित्र आवेश, एक दुर्निवार आकर्षण मन-ही-मन मैं अनुभव किया करता था। तुम मनोवैज्ञानिक बनते हो। तुम्हें मेरी इस प्रवृत्तिका पता तक नहीं है। इसीलिए मुस्करा रहे हो। नहीं कह सकता कि सभी पुरुषोंमें यह भावना सामान्य रूपसे वर्तमान होती है, या नहीं। अपनी बात कह सकता हूँ, और वही कहूँगा।

सारे शहरसे ढूँढ़कर लड़कियोंके कई चित्र मैंने इकट्ठे कर रक्खे थे। एकान्त कमरेमें एक-के-बाद-एक निकालता, उनकी वेषभूषा, शरीरकी गढ़न, चेहरेकी काट, आँखोंका सौन्दर्य इत्यादिकी मन-ही-मन आलोचना किया करता था। तुम जिसे पाप कहते हो, या जिसे तुम वासना समझते हो, वैसी ही कोई वस्तु मेरे

मनमें थी, यह तो नहीं कहा जा सकता। जिनके चित्र मेरे पास थे, उन सभी लड़कियोंको प्राप्त करनेकी कामना मुझे नहीं थी। मैं उनमेंसे किसी एकके साथ विवाह करना चाहता था। ईमानदारीसे उसी एकके साथ मैं समूचा जीवन बिता देता। किसी दूसरी स्त्रीकी ओर स्वप्नमें भी आँखें नहीं उठाता। साधारण व्यभिचारी पुरुषके-से विचार मेरे नहीं थे। इतना बड़ा लांछन मेरा शत्रु भी मुझपर नहीं लगा सकता। मेरी कहानी सुननेसे पूर्व तुम्हें इस मनोवृत्तिको खूब अच्छी तरह समझ लेना होगा।

आफिससे लौट कर मैं टहलने निकल जाता। गंगाजीके किनारे, पार्कों, बगीचों, कैण्टोनमेंटकी सड़कोंपर घूमता रहता। उधरसे आती-जाती लड़कियोंको देखता। सोचता, किससे विवाह करना ठीक होगा, किससे नहीं। विवाहित स्त्रियोंकी ओर मैं आँखें नहीं उठाता था। कभी-कभी ऐसा होता कि कोई लड़की पार्कमें अकेले टहलती हुई दिखाई देती। बादमें मालूम होता कि वह विवाहित है, तो मेरी आत्मग्लानिकी सीमा न रह जाती। जो कुछ पाप है, धर्मशास्त्रोंमें जिसे शारीरिक वासना या आसक्ति कहा है, मैं उससे बहुत बचता फिरता था। मुझे धुन हुई थी विवाह करनेकी। मेरे अपने कहनेको दो-एक ही मित्र थे। उन्हें मेरी उस प्रवृत्तिका पता था। जानता हूँ कि उन्होंने किसी भी समय गम्भीरतासे मेरे स्वभावका अध्ययन नहीं किया। वे केवल यही समझते थे कि मैं विवाह करनेके लिए उतावला हूँ। विवाहका प्रसंग छिड़नेपर मेरे कान खड़े हो जाते हैं, और शरीरका रोम-रोम शतकर्ण होकर उनकी बातें सुनना चाहता है। बहुधा उपहासके रूपमें वे लोग कहते, आओ जी मनोहर, एक लड़कीसे तुम्हारी

जान पहिचान करा दें। तुमसे हो सके तो सिविल मेरेज कर लेना। मैं प्रसन्न होकर उनके साथ चल देता। होटलोंमें चाय पिलाता, मिठाई खिलाता, सिनेमामें ले जाता। अन्तमें जब मालूम होता कि वे तो केवल हँसी कर रहे थे तो मेरे क्रोध और क्षोभकी बाढ़-सी उमड़ पड़ती।

बनारसमें उन दिनों एक बड़ी भारी प्रदर्शिनी हो रही थी। खेल, तमाशे, नाटक आदिसे मुझे विशेष प्रेम है। मैं स्वयं तो जाता ही हूँ अपने साथ दूसरोंको भी घसीट ले जाना मुझे अच्छा लगता है। अकेले ऐसे अवसरोंपर कहीं जाना मेरे स्वभावके प्रतिकूल है। इससे कभी-कभी मेरे मित्रोंको असुविधा भी होती है। उनके निजी आवश्यक कार्य होते हैं। खेल-तमाशे जीवनके अनिवार्य अंश हों—यह तो सत्य नहीं है। बनारसमें जिस व्यक्तिसे मेरी घनिष्ठता बढ़ी, वह विश्वविद्यालयमें एम० ए० का विद्यार्थी था। कुमार उसका नाम था। उससे मित्रता होनेका एक कारण यह भी था कि विश्वविद्यालयमें कुमारकी कई सहपाठिनी लड़कियाँ थीं। मुझे आशा थी कि उसके द्वारा किसी दिन किसीके साथ परिचय हो सकेगा।

उस दिन नुमाइश देखकर हम लोग लौटने ही वाले थे कि कुमार बोला—"आओजी मनोहर, तुम्हें एक नये टाइपकी लड़कीसे मिलायें। बादमें शायद सिविल मैरेज...."

मन-ही-मन मैं प्रसन्न तो हुआ। किन्तु सोचा यह भी कदाचित् एक मज़ाक हो। बोला—"रहने दो, हो गया! मुझे तुमने कोई शोहदा समझा है कि लड़कियोंके पीछे चक्कर लगाता फिरूँ?"

वह बोला—"तुममें यही तो ऐब है। रातदिन झींकते हो कि

कहीं शादी हो जाय। वह भी ऐसी वैसी नहीं, सीधे गान्धर्व-विवाह करना चाहते हो। उसके लिए प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा न? शकुन्तला स्वयं तो दुष्यन्तके पास आयेगी नहीं, कौन जानता है, कितनी धूल तुम्हें अभी फाँकनी पड़े।"

वह मुस्करा रहा था। मेरा सन्देह और भी दृढ़ हो गया। कहा—"आज ही कौन मुहूर्त टला जाता है। शाम हो चुकी है। आफिससे घर भी नहीं गया हूँ। आज रहने दो। फिर देखा जायगा।" मन-ही-मन मैं डर भी रहा था कि कहीं वह मेरी बात मान ही न ले और एक सुअवसर यों ही हाथसे निकल जाय। तुम्हें बताऊँ कि विवाह करनेकी मेरी उत्कण्ठा इधर पागलपनकी सीमा तक पहुँच चुकी थी। इसीलिए अपने कार्योंकी अनुपयुक्ततापर मेरा कभी ध्यान नहीं गया।

मेरी आनाकानीसे खीझ कर वह बोला—"तुम भी जीवन-भर दब्बू ही रहे—मनोहर। तुम्हें चक्ता नहीं जायेगी। लड़की ही है। मेरी जान-पहिचानकी, पढ़ी-लिखी, सभ्य है। ऐरी-गैरी नहीं...."

इससे अधिक आग्रहकी मुझे आवश्यकता नहीं थी। दिखावटी विवशताका अभिनय करते हुए मैं उसके साथ चल दिया। बड़ी झेंप लग रही थी। एक तो स्वभावसे लाचार, दूसरे उस दिन कपड़े-लत्ते ठीक पहिने हुए न थे। एक चौड़ा फटा हुआ पायजामा, और खद्दरकी एक मैली-सी कमीज़। सिरके बाल भी अस्त-व्यस्त थे। तुम्हें एक बात बताना भूल गया। सुनकर हँसोगे। एक ओर तो स्वयंप्रार्थी बनकर मैं विवाहके लिए लड़कियाँ ढूँढ़ता फिरता था, दूसरी ओर पाखण्डका एक विचित्र

भूत मुझपर सवार था। उन दिनों सादगीकी धुन लगी थी। अप-टू-डेट ठाट-बाटसे परे एक साधारण-सा व्यक्तित्व खड़ा करनेकी आकांक्षा थी। ऐसे वेषमें कभी-कभी समाजमें नीचा भी देखना पड़ता। कई दिनों स्वयं भी क्रोध और दुःखमें डूबा रहता। धुन ही तो है। किया क्या जाय?

वह मुझे एक बड़ी दुकानपर ले गया। बोला—"लड़की बी० ए० में पढ़ती है। यूनिवर्सिटी भरमें अपने साहसके लिए विख्यात है। बड़ी दिल्लगीबाज़ है, मनोहर। सँभले रहना।" मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। क्यों कि जिस प्रकारका उपहास वह मेरे साथ करनेवाली थी, मुझे तो स्वप्नमें भी वैसी कल्पना नहीं थी। तुम सुनोगे तो समझोगे मैं नमक-मिर्च मिलाकर यह सब कह रहा हूँ। यह सच है कि जीवन-भर स्त्रियोंसे दूर-ही-दूर रहा। डरता रहा। फिर भी मेरी धारणा निरन्तर यही रही है कि जहाँतक धृष्टता, निर्लज्जता और कठोरताका प्रश्न है, ये दुर्गुण पुरुषोंमें ही होते हैं, स्त्रियोंमें नहीं। किन्तु उसी दिन मेरी इस प्रतीतिपर अनभ्र वज्रपात होना बदा था।

सामनेकी बेंचपर वह बैठी हुई थी। पास पहुँचनेसे पहिले ही मैंने उसका सिर-पैर भली भाँति देख लिया था। घबराहट किसी सीमातक कम हो गई। सुन्दर कहीं जानेवाली लड़की वह नहीं थी। सौन्दर्य मेरे मनमें अचकचाहट उत्पन्न कर देता है। सुन्दरता बड़ी फालतू चीज़ मैं समझता हूँ। साधारण लड़की; अवस्था कोई सत्रह वर्ष; इकहरी देह, कपड़े-लत्ते भी अधिक भड़कीले नहीं। सोचा, घबराहटका कोई भी हेतु नहीं।

जान पहिचान हुई, किन्तु अधूरी ही। मेरा परिचय तो कुमारने दिया किन्तु उसके विषयमें कहना भूल गया। मैंने कहा—"भई, जिनसे मिलाने लाए हो, उनका कुछ तो परिचय मुझे देना चाहिए था—"

पता नहीं किस साइतमें पूछा था कि सुनते ही वह घबराई हुई-सी बोली—"हाँ—हाँ—कहीं कह न बैठना। मेरा परिचय यों ही रहने दो।" और अपनी जीभ दाँतोंसे दबाकर वह खिलखिला पड़ी।

कुमारने पूछा—"क्यों? परिचय देनेमें क्या हानि है? ये तो मेरे मित्र हैं। जैसा मैं, वैसे ये।"

वह मुस्करा कर बोली—"नहीं जी, पुरुषोंका आपसी अन्तर पुरुष नहीं जान पाते। हम लड़कियोंको ही ईश्वरने यह मति दे रखी है। उन्हें अपना-सा समझ कर आप भूल कर रहे हैं।"

मैं सकपका गया था। वह छूटते ही मेरी आलोचना करने लगी थी। क्षणभरकी ही जान-पहिचानमें ऐसा स्वच्छन्द व्यवहार! कुमार बोला—"इनमें ऐसी क्या बात है जो तुम्हें खटकती है?"

वह कई क्षणों तक मुझे घूर-घूर कर देखती रही। होंठ लगातार मुस्करा रहे थे। अन्तमें बोली—"मनुष्यका चरित्र उसकी चाल-ढाल और पहिनावेपर अंकित होता है। यह मैला पायजामा—सिकुड़न-दार कमीज़, धूलभरी जुल्फें! क्यों मिस्टर....क्या नाम बताया था आपने इनका?...ओह, मिस्टर मनोहर?.... आप कभी कानपुर भी रहते थे?"

मुझे चुरी झेंप आ रही थी, और क्रोध उमड़ रहा था।

कहाँ आ फँसा ! लड़की है या पिशाची ? बोला—" जी नहीं... कानपुर मैंने देखा तक नहीं—"

बोली—" हूँ; देखनेकी नहीं, मैं तो रहनेकी बात कह रही हूँ। अच्छा तो इस सुरुचिपूर्ण वेषभूषाका अभ्यास आपने कहाँ किया था ? "

" क्या अभिप्राय है आपका ? " मैंने पूछा।

" अभिप्राय ? कुछ नहीं—मेरा क्या खाक अभिप्राय होगा ! आप तो सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, किन्तु लगता है कपड़े-लत्तोंकी ओर आपको अनासक्ति हो गई है। दूरसे अपनी ओर आते देखकर मैं कुछ और ही समझी थी—। खैर, रहने दीजिए—"

" रहने क्यों दूँ ? बताइए, मुझे क्या समझी थीं आप ? " मेरा स्वर क्रोधसे काँपने लगा था।

बोली—" आप बुरा मान जायेंगे। "

" बुरा मान जाऊँगा तो आपकी कोई हानि नहीं होगी। "

" तो साफ बात तो यह है कि मिस्टर कुमारके साथ आपको देखकर मैं समझी थी कि कोई वह हैं—वह....क्यों कुमार, क्या कहते हैं उन्हें ? "

" किन्हें ? " कुमारने पूछा।

" अरे भई, लो कहे देती हूँ—गुण्डा। " वह बड़े जोरोंसे खिलखिलाकर हँस पड़ी।

अपरिचितासे गुण्डेकी उपाधि पाकर मेरे नीचेकी धरती खिसक पड़ी। मुझे क्या हुआ—कह नहीं सकता। हृदयकी धड़कन बढ़ गई। सारा शरीर काँपने लगा। कुछ देर यदि वहीं

खड़ा रहता तो न जाने क्या हो गया होता। मैंने कुमारको आस्तीन पकड़कर घसीटा और उसी क्षण वहाँसे चला आया। वह कहता ही रहा—"अरे ठहरो भी यार, एक मिनट....कुल एक मिनट...."

बाहर आकर लगा कि मुझे अत्यधिक क्रोध आ रहा है। सड़कके बीचों-बीच खड़े होकर मैंने पूछा—"तुम क्यों मुझे वहाँ ले गये थे? बोलो, क्या इस प्रकार अपमानित करने? क्या मिला तुम्हें, बोलो?"

वह एकाएक कोई उत्तर नहीं दे सका। फिर बोला—"अरे भाई, तुम तो विचित्र जीव हो! अपमानकी वहाँ क्या बात थी? उसने साधारण ठठोली की, और तुम ऐंठकर चले आये। मैंने पहिले ही जता दिया था कि हँसोड़ लड़की है।"

मैं बोला—"नरकमें जाय तुम्हारी वह लड़की और तुम! समझे? तुमने जान-बूझकर आज मेरा अपमान कराया है। तुम्हारे अन्दर जाने कबसे विष उफन रहा था। आज तुमने..."

गला रुँधा जा रहा था। वह आँखें फाड़कर मुझे देखता रहा। समझता होगा, क्या कहूँ ऐसे व्यक्तिसे। मैं तो उसी क्षण बिना कुछ और कहे वहाँसे चला आया।

"—भई मनोहर, सुनो तो। देखो एक बात सुनते जाओ। ....देखो।" मैं तो रुका ही नहीं। वहाँसे चला आया।

साढ़े तीन मील चलकर घर तक पहुँचना था। बार बार यही सोच रहा था कि जो कुछ अभी हो गया, वह केवल संयोग ही नहीं था। यह सारा प्रपंच जान बूझकर रचा गया

था। बहुधा यह धारणा पीड़ित किया ही करती थी कि मेरे मित्र मुझसे घृणा किया करते हैं। सोचता था कि एक अवांछनीय व्यक्ति हूँ। लोग जानबूझकर इसी लिए अपने बीच मुझे रहने देना पसन्द करते है कि मुझे पीड़ित और अपमानित करके उन्हें एक प्रकारका पाशविक सुख मिलता है। इसी धारणासे मेरा स्वभाव भी रूखा और संशयालु बनता जा रहा है। प्रत्येक अवसरपर मैं लड़ने झगड़नेपर उतारू रहता हूँ। दूसरे दिन तड़के ही कुमार आ पहुँचा। मैं भी तैयार था। जानता था कि घावपर मलहम लगाने आया है। इतना ओछा तो हूँ नहीं कि थोड़ी-सी लल्लो-चप्पोसे अपना तिरस्कार भूल जाऊँ। आते ही बोला—" कल तो भैया मनोहर,—क्या कहूँ?—तुम्हारा पारा आसमानपर चढ़ गया था। जरा-सी बात, और....."

मैंने रोककर कहा—" जरा-सी बात तुम्हारे लिए हो हो सकती है, कुमार। तुम्हें मेरा अपमान साधारण वस्तु लगी। भला तुम्हें उतनेसे सन्तोष कैसे होता? "

" फिर वैसी ही बात करने लगे!—मैं कहता हूँ मनोहर, कि तुम्हें क्या हो गया है? किसीने तुमसे दिल्लगी की, मुझपर तुम गरज रहे हो। रुईसे हलके परिहास तुम्हें भारी लगते हैं! "

मैंने कहा—" कभी नहीं। तुम्हारी धारणा सरासर झूठ है। मुझसे तुम ऐसी आशा कदापि नहीं कर सकते कि चुपचाप अपने तिरस्कारको पी जाऊँ। "

वह कुछ देर चुप रहा। फिर बोला—" तुम समझते हो कि मेरे द्वारा तुम्हारा अपमान हुआ है, तो भई, मैं क्षमा माँगता हूँ। किन्तु सच मानो, इसमें मेरा तनिक भी हाथ नहीं था। "

सोचा था, यदि कहा-सुनी हुई तो मैं क्या हूँ, बता दूँगा। किन्तु क्षमा माँग कर वह चला गया। मुझे लगा उससे लड़कीका नाम धाम पूछ लेना चाहिए था। इसकी आवश्यकता थी। मैं पुनः एक बार उससे मिलना चाहता था। अपमानका प्रतीकार चुकानेकी इच्छा थी। जो व्यक्ति दूसरोंपर छींटे कसता है, अपने आपको समाजमें कुछ ऊँचा अनुभव करता है। उस लड़कीने मुझे निम्न श्रेणीका मनुष्य समझा था। मेरी वेष-भूषा देख कर उसे यह धारणा हुई होगी। वह स्वयं बड़ी नीच है; मुँहफट और निर्लज्ज है। अहंकार उसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। जो दूसरोंके निर्धन दिखावेका अपमान कर सकता है, वह समाजका शत्रु है—भयंकर शत्रु। उसका स्वप्नमें भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

दिनभर मैं इन्ही विचारोंमें डूबता-उतराता रहा। छुट्टीका दिन था। घरमें मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं। तमाम दिन अकेले ही अपनी विषाक्त भावनाओंके बीच बिताना पड़ा। नुमाइश खुलती थी सायंकाल साढ़े पाँच बजे। समय काटना दूभर हो गया। हृदयमें प्रतिहिंसा जल रही थी। पछता रहा था कि उसी समय लड़कीके एक तमाचा क्यों नहीं जड़ दिया। अधिक-से-अधिक क्या होता। पुलिसमें दे देती। मानहानिके लिए जेल हो जाती। किन्तु उसे भी पहिला पाठ ऐसा मिलता कि भुलाये नहीं भूलती। और कोई दिन होता तो किसी मित्रके घर चला जाता। किसी भाँति समय काटनेका प्रयत्न करता। किन्तु आज साहस नहीं हुआ। अपने ही अन्दर मैं बुरी तरह उलझा जा रहा था। डर लगता कि किसीके सामने पड़ गया तो भाँप जायेगा।

इस अवस्थामें किसीके आँखोंसे आँखें मिला सकनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं था। साढ़े पाँच बजते ही मैं तैय्यार हो गया। सादगीकी जो धुन मुझपर सवार थी, अब तक अन्दर ही अन्दर जलकर राख हो चुकी थी। छान-बीन कर एक अच्छा-सा सूट निकाला। दाढ़ी मोंछ लीप-पोतकर, बाल सँवार कर मैं घरसे बाहर निकला। सोचा, अबकी; देखकर वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी। अप्रतिभ-सी होकर मुझे देखती रहेगी। स्मरण होगा कि वही व्यक्ति है कल जिसका क्रूर उपहास उसने किया था। इस विचारसे लज्जित हो उठेगी। क्षमा-याचनाका भाव उत्पन्न होगा। किन्तु स्वाभाविक अहंभावके कारण वह ऐसा नहीं कर सकेगी।

वही क्षण होगा, जिसकी मुझे आवश्यकता है। उसी समय ऐंठकर कहूँगा—कल तुमने ऐसा अपराध किया था कि तुम्हें कठोर दण्ड मिलना चाहिए। तुम अत्यन्त धृष्ट और निर्लज्ज हो। सामान्य और विशिष्ट व्यक्तियोंके बीचका अन्तर तुम नहीं जानतीं। सोचा, साथ-ही-साथ अपना साहित्यिक ज्ञान भी उसपर लाद दूँगा, ताकि उसके मानसिक अनुतापमें कोई कसर बाकी न रहे। अत्यन्त विनम्र होकर वह मुझसे क्षमा माँगेगी। और मैं तत्काल शान्त हो जाऊँगा। इस प्रकार बिगड़ी हुई बात बन जायेगी। भावी मित्रताका सूत्रपात होगा। किसी अज्ञात दिशासे सुखका एक स्रोत मनके भीतर उमड़ पड़ा। सोचा, पहिले दिन जो अनबन हो गई है, भविष्यमें वही चिरन्तन आनन्दका एक कारण बन सकती है। मैं उस दिनका दिवास्वप्न देखने लगा कि जब किसी विश्वस्त क्षणमें विवाहका प्रस्ताव इसी लड़कीके

सम्मुख रक्खूँगा । प्रदर्शिनी-द्वारके अन्दर प्रवेश करते ही वह दिखाई दी ।

सोचा, मेरी ही भाँति खेल-तमाशोंका शौक इसे भी है। चूड़ीवालेकी दुकानपर खड़ी थी । मैं उसीके पीछे कुछ दूर खड़ा रहा । सोचा, आगे बढ़ी कि सामने हो जाऊँगा । वहाँ वह आधा घंटा खड़ी रही । मैं उकता चला था । कसी विचित्र लड़की है ! दो-चार चूड़ियाँ खरीदनी होंगी । उनके लिए बेचारे दुकानदारका दिमाग चाटे जा रही है । मुझे लगा कि उसने देख लिया है । भाँप गई है कि उसीसे मिलने यहाँ खड़ा हूँ । कदाचित् कलका स्मरण उसे हुआ है । सोचती होगी, प्रतीकार करने आया हूँ । यही बात है । उसपर मेरे व्यक्तित्वका अवश्य प्रभाव पड़ा है । नहीं तो वह डरती क्यों ? इसी बीच चूड़ियाँ लेकर वह तेजीसे मेरे सामने होकर निकली ।

चाहा कि पुकारूँ, रोकूँ । किन्तु नाम नहीं जानता था । इसी उधेड़-बुनमें वह आगे निकल गई । मैं भी तेजीसे उसीके पीछे-पीछे चला । सोचा बचकर कहाँ जायेगी ? कुछ दूर जाकर फिर एक दुकानपर खड़ी हो गई । पचीस-तीस मिनट यहाँ भी लगेंगे । मैं कुछ दूर एक बेंचपर बैठ गया । लगा कि एक बार उसने कनखियोंसे इस ओर देखा । फिर मोल-तोल करनेमें लग गई । चुपचाप अपने ही स्थानपर बैठा रहा । इसी समय किसीने पीछेसे मेरे कन्धेपर हाथ रक्खा । घूमकर देखा तो जान पहिचानका व्यक्ति था । बोला—"कहो भई, क्या कर रहे हो यहाँ ? नुमाइश तो चल-फिरकर देखनेकी वस्तु है । बैठे बैठे

क्या आनन्द तुम्हें मिल रहा है?" कहते कहते वह मेरी बगलमें आ बैठा। सोचा, कहाँसे आ पड़ा यह दुष्ट। कहा—"बहुत घूमा हूँ। थक गया हूँ। पन्द्रह-बीस मिनट आराम करना चाहता हूँ।" वह बोला—"और क्या हाल चाल हैं तुम्हारे? आजकल दिखाई भी तो नहीं देते।" मैंने चाहा कि कहूँ, अभी चला जा यहाँसे। फिर सोचा, यह अभद्रता होगी। जाने क्या समझेगा। मैं संक्षेपमें उसे अपने हाल-चाल बतानेमें लगा। परन्तु आँखें लड़कीपर लगी रहीं। उसने भी कदाचित् मुझे उलझा हुआ देख लिया था। सामानका एक छोटा-सा बंडल बगलमें दबाए वह आगे बढ़ गई।

मैंने चट आपने साथीसे कहा—"चलो, अब आराम कर चुके। एकाध चक्कर और लगा लें।" सोचता था, कदाचित् वह थका हुआ है; कहेगा, तुम चलो, मैं ज़रा देर बैठूँगा। परन्तु वह भी उठ खड़ा हुआ। चल दिया मेरे ही साथ-साथ। क्या करूँ—क्या न करूँ? उसे साथमें लेकर तो लड़कीसे बातें नहीं कर सकता। विवश होकर, मैं अपने साथीको लिए-लिए, वह जिधर जाती, उसीके पीछे जाने लगा। कोई एक दर्जन चक्कर लगा चुकनेपर वह बोला—"भई, मुझे तो आज्ञा दो। मैं चलूँ। कई काम करने हैं मुझे।" मैंने मन ही मन कहा, जाओ तो किसी प्रकार नरकमें। वह चला गया। मेरी आँखें लक्ष्यपर ही लगी हुई थीं। इस समय वह कल-वाली दुकानपर जाकर बैठ गई थी। सोचा, अच्छा अवसर है। जाकर उसीके सामने बैठना चाहा। वार्तालापमें सुविधा होती। किन्तु निकट पहुँचकर एकाएक विचार हुआ कि दुकानदारके समक्ष कुछ कहना ठीक नहीं। झगड़ने लगी तो व्यर्थमें उलझन

होगी। उसे किस प्रकार अपने पास बुलाऊँ ? नाम जानता होता तो कहकर पुकारता। सोचा, खाँस कर देखूँ। मेरी ओर देखेगी तो कहूँगा, दो बातें करनी हैं आपसे, जरा सुन जाइए। वह कदाचित् इसी प्रतीक्षामें थी। ज्यों ही मैंने खाँसा कि वह उठी। सीधी मेरे पास आकर खड़ी हो गई। बोली—"क्या बात है ? आप क्यों आज मेरे पीछे पड़े हैं ?—क्या बात है ?—कहिए न ?"

मैं तो इस अप्रत्याशित घटनाके लिए तैयार न था। अचानक ऐसे प्रश्न वह कर बैठेगी—मैंने नहीं सोचा था।

वह चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगी—"बोलिए न ? आप क्यों दो घंटेसे मेरा पीछा कर रहे हैं ? मुझे क्या समझ रक्खा है आपने... ?"

मैं कुछ कहना चाहता था कि आसपास दो-चार जने आकर खड़े हो गए। दुकानदार भी आ मिला था। अपने ग्राहककी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। आकर बोला—"क्या बात है ? क्या बात है ?"

बोली—"यह महाशय आज छह बजेसे मेरा पीछा कर रहे हैं। कोई सड़ककी औरत समझ रक्खा है मुझे।—क्यों जी ?"

मैं अचानक साहस बटोरकर बोला, "देखिए, श्रीमतीजी आप भूल कर रही हैं। मैं किसी बुरे अभिप्रायसे आपका पीछा, नहीं कर रहा था।"

"ओहो, तो आप अंगरक्षक बनकर मेरे पीछे चल रहे थे ! क्यों महाशय ? मैं कुछ नहीं सुनना चाहती, समझे आप ? अब मैंने यदि आपको अपने पीछे देखा तो, समझ लीजिए, मैं उसी

क्षण पुलिसको सौंप दूँगी। समझे आप?" फिर वह अपने उसी स्थानपर जा बैठी। मुझे कुछ कहनेका अवकाश ही नहीं मिला। चुपचाप वहीं खड़ा रहा। आसपास लोग हँस-हँसकर अपना अपना मत प्रकट कर रहे थे। किसीने कहा, "सफेदपोश है जी, सफेदपोश।" दूसरा बोला—"भले आदमी बनते हैं—औरतोंका पीछा करते हैं।" किसीने कहा, "अरे भाई, अच्छे कपड़ोंसे भी कोई भला मानुस बना है?"

सारी प्रदर्शिनी, उसके सभी तम्बू, दुकानें, मनुष्य, सबके सब बड़ी तेजीसे मानो मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। मुझे लगा, पैरोंकी चेतना खो गई है, वे शिथिल हुऐ जा रहे है, मेरा बोझ न सँभाल सकेंगे। मस्तिष्कमें लग रहा था मानो हजारों-लाखों दीमक एकसाथ चंचल हो उठे हों! इसमें तो सन्देह नहीं कि उस रात पैदल ही चलकर आया था। मार्ग-भर मेरे मस्तिष्कमें एक शून्यता छाई हुई थी। अपमानकी गहरी चोटसे विचार-शक्ति लुप्त हो गई थी। समझमें नहीं आ रहा था कि क्या हो रहा है; मुझे क्या करना चाहिए।

प्रातःकाल नींद खुली। नौ बज रहे थे। दस बजे दफ्तरका समय होता था। एकाएक सायंकालकी घटनाका स्मरण हुआ। प्रयत्न करनेपर भी यह न जान सका कि आखिर मुझे कल क्या हुआ था। प्रदर्शिनीमें आदिसे अन्ततक एक लड़कीका मैं पीछा करता रहा। लगा कि मुझमें भयंकर विकृति उत्पन्न हो गई है। नहीं तो अकारण ऐसा पागलपन करनेकी प्रेरणा कैसे हुई? सैकड़ों-हजारों नेत्रोंके आगे कल मेरा गुण्डापन सिद्ध कर दिया गया, यह विचार आते ही मारे लज्जा और ग्लानिके मेरा

सारा शरीर जल उठा। लोगोंकी दृष्टिमें मेरा मूल्य अब क्या रह गया होगा? कलकी बात अब तक शहर भरमें फैल गई होगी। किसीकी दुष्कीर्ति फैलते देर क्या लगती है? फिर सोचा, अब-तक जो कुछ हो चुका है, पर्याप्त है। उस लड़कीके विषयमें अधिक सोचना ठीक नहीं। उसके मार्गमें आनेकी आवश्यकता ही क्या है? चाहे जैसी हो, मुझे क्या प्रयोजन? परन्तु सायं-कालको पाँच बजे, तो सोचा, प्रदर्शिनीका समय हो रहा है। अकेले बैठे-बैठे क्या करूँगा। वहीं चला चलूँ। किन्तु भीतर प्रवेश करनेका साहस मुझे कैसे होगा? कई दूकानदार मुझे पहिचानने लगे होंगे। उनके समक्ष होकर कैसे निकल सकूँगा? और वह भी तो वहीं होगी। व्यंग्य और विजयके आह्लादसे मुझे देखेगी। उसे नीचा दिखाने गया था, उलटे मुझीको मुँहकी खानी पड़ी। अब उसके समीप खड़े हो सकनेका सामर्थ्य मुझमें कहाँ? अपनी इस अशक्तापर मैं बार बार तड़प उठता था। नुमाइश देखने नहीं गया। कहीं जाकर टहलनेकी इच्छा नहीं हुई। नौकर भोजन बनाने लगा तो उसे मना कर दिया। भूख नहीं थी। उसने लालटेन जलानी चाही। प्रकाशकी भी आवश्य-कता नहीं थी। उससे जानेको कहा, और अकेले कमरेमें स्वयं ही अंधकार बनकर पड़ा रहा।

दफ्तरसे एक सप्ताहकी छुट्टी ले ली। संसारसे सिकुड़कर घरमें बन्द रहना चाहता था। मन बहलानेके लिए कभी कोई पुस्तक पढ़ता, तो कभी घरकी छतपर चहलक़दमी करने लगता। पड़ोसकी दूसरी छत इस ओर सटी हुई थी। बीचमें कमर कमर ऊँची दीवार थी। उस मकानका किराया चालीस रुपये था।

इतना मूल्य देनेका साधारण व्यक्तिको साहस नहीं होता। जबसे आया हूँ देख रहा हूँ कि उधर कभी कोई किराएदार नहीं आया। सायंकालको मैं छतपर टहल रहा था। देखा दीवालके उस ओर मजूर काम कर रहे हैं। एक व्यक्ति उन लोगोंसे जल्दी जल्दी काम करनेको कह रहा था। मेरी उत्सुकता बढ़ी। पास जाकर पूछा तो मालूम हुआ, मकान-मालिकका गुमाश्ता है। सफाई करा रहा है, क्योंकि कल एक किराएदार आनेवाले हैं। पड़ोसीके नाते उस अज्ञात व्यक्तिके विषयमें कुछ और जाननेकी उत्कण्ठा हुई। उसने बताया कि वह किसी बैंकके मैनेजर हैं। कलसे सपरिवार यहाँ आकर बसेंगे। शेष बातें पारस्परिक सम्पर्कमें स्वयं ही ज्ञात हो जायेंगी—ऐसा मुझे विश्वास दिलाकर वह पुनः मजूरोंकी ओर चला गया।

उस अज्ञात किराएदारका आना मुझे न जाने क्यों अच्छा नहीं लगा। आज तक मेरे पड़ोसमें कोई घरबारी सज्जन नहीं रहते थे। एक ओर वही खाली मकान था। दूसरी ओर मिट्टीके घरौंदेमें एक मुसलमान जुलाहा रहा करता था। बुड्ढा और गरीब; न बीवी, न बच्चे। कई वर्षोंसे इसी भाँति घर और बाहर दोनों ओरसे अकेला मैं रहता आया था। अब उस ओर एक परिवार रहने लगेगा। बच्चे होंगे; महिलाएँ होंगी। पचासों काम पड़ेंगे। न जाने किस प्रकृतिके हों। झगड़ालू हुए तो कुशल नहीं। मैं स्वयं ही अपने स्वभावसे लाचार था।

प्रातःकाल दूसरी ओरसे सामान इधर-उधर हटाये जानेका शब्द, बच्चोंकी रीं-रीं चीं-चीं और स्त्रियोंका कोलाहल सुनाई

दिया। सोचा, वे लोग आ गए। उस दिन छतपर टहलने नहीं गया। किसीका सामना हुआ तो बातें करनी होंगी। प्रश्नोंकी झड़ी लगेगी, उत्तर देना पड़ेगा। कौन उस झमेलेमें पड़े?

उसी समय ऊपरसे किसी महिलाका कंठस्वर सुनाई दिया। किसीसे पूछ रही थीं—"इस मकानमें कौन रहता है?—क्या कहा? बाबू?—कौन बाबू?—अकेले हैं, या गिरस्ती है साथमें?—अकेले हैं! अच्छा?—कैसे आदमी हैं?—चलो, ठीक है। हमें क्या लेना किसीसे? पड़ोसी हैं, अच्छे आदमी हैं—हमें तो यही चाहिए।" इसके उपरान्त कोई कुछ नहीं बोला। कदाचित् वह नीचे चली गई थीं। मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। सोचा, कौन है वह, जो मुझे भला मानुस घोषित कर रहा है? परोक्षमें भी कोई व्यक्ति मेरी प्रशंसा कर सकता है, यह सोचकर मुझे रोमांच होने लगा। मैं तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि कोई व्यक्ति मुझपर निःस्वार्थ स्नेह रखता है। क्षण-भरके लिए मनपर नशा-सा छा गया। मुझे लगा कि वह अज्ञात हितेच्छु यदि मेरे समक्ष आ सके तो छातीसे लगा लूँ; उसके पैर चूम लूँ; सामने बिठाकर कहूँ—देखो, तुम जिसे भला मानुस बता रहे थे, वह अत्यन्त नीच है, तिरस्कृत और घृणित है। पिछले दिनोंका स्मरण हुआ। सोचा यदि इसी समय कोई आकर इनसे कहे—तुम्हारा पड़ोसी तो पक्का धूर्त है, उससे बचते रहना। वह खेल तमाशोंमें, नुमाइशोंमें महिलाओंपर डोरे डालता फिरता है। तुम बाल-बच्चेवाले आदमी ठहरे। ऐसा पड़ोसी ज़रा खतरनाक होता है—। इस कल्पनासे मेरा हृदय बैठ गया। मनपर रुआ-सापन छा गया। इच्छा हुई, अभी ऊपर जाकर कह दूँ—

सावधान, यदि कोई परोक्षमें मुझपर लांछन लगाना चाहे तो उसपर विश्वास न कीजिए। जीवनमें एक ही व्यक्ति मिला था, जो मुझे प्रशंसाका पात्र समझता है। कहीं मैं उसे खो न बैठूँ, इस आशंकासे प्रेरित होकर मैं छतपर जा पहुँचा। देखा, दूसरी ओर कोई सज्जन इधर-उधर चक्कर लगा रहे हैं। अधेड़ अवस्था थी, बाल खिचड़ी हो गए हैं; दुहरी देह; गेहुँआ रंग; खद्दरकी धोती और खद्दरका कुर्ता। मुझे देखते ही मेरी ओर बढ़ आये। बोले—"नमस्ते, महाशय जी,—नमस्ते!"

मैं तो एकाएक झेंप-सा गया, उनके व्यक्तित्वमें कुछ ऐसी ही सरलता थी। कुछ ऐसा ही प्रभाव था। मैंने केवल हाथ जोड़ दिए।

बोले—"कहिए कुशल तो है?"

"जी हाँ, आपकी दयासे।" मैंने कहा।

"हम लोग अभी आपहीके विषयमें बातें कर रहे थे।"

मैंने पूछा—"आपको मालूम हुआ होगा कि आपका यह पड़ोसी अच्छा आदमी तो नहीं है!"

"अजी नहीं-नहीं, हरे-हरे। आप यह क्या कहते हैं? आपका जो मुसलमान पड़ोसी है, बेचारा घण्टे-भर आपका ही गुणगान करता रहा।"

यदि वह उठकर लट्ठ मार देते तो उतना आश्चर्य नहीं होता जितना यह सुनकर हुआ। वह जुलाहा मेरी प्रशंसा करे?—वही जिससे मैंने इतने वर्षोंसे एक भी बात नहीं की? जिन लोगोंमें रात-दिन रहता आया हूँ, जिन्हें लेकर मेरे समाजका निर्माण हुआ है, उनके मुँहसे निश्छल स्नेहका एक भी शब्द मुझे आज तक

प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु, दीन-हीन मेरा वह पड़ोसी, जिसे सदासे मैं अकिंचन समझता आया, वही आज एक अपरिचितके हृदयमें मेरे प्रति आदर और प्रेम अंकुरित कर सकता है। मुझे उधेड़-बुनमें पड़ा हुआ देखकर वह बोले —"आज आप आफिस नहीं गए? तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

मैंने कहा—"जी हाँ, दो-चार दिनसे यों ही कुछ अस्वस्थ-सा रहता हूँ।" झूठ बोल रहा हूँ। मेरा मन सिकुड़कर कराह उठा। सोचा, क्यों न सारी बातें इनसे सच-सच कह दूँ। सीधे-सादे मनुष्य हैं। धोखा देना उचित नहीं। बोले—"बहुत ठीक किया आपने। मनुष्यको पहिली चिन्ता स्वास्थ्यकी होनी चाहिए। मैंने भी मकानकी अदला-बदलीके कारण तीन दिनकी छुट्टी ले रक्खी है।—आपको मालूम तो है न, मैं एक बैंकका मैनेजर हूँ?"

"जी हाँ—"

तो हँसकर बोले—"अजी, क्या मैनेजर क्या चपरासी—सब पेट पालनेके ढंग हैं।—आप खड़े क्यों हैं? आइए न? यों ही छत लाँघकर आ जाइए। आप भी खाली हैं, और मैं भी। नीचे बैठेंगे। गपशप होगी—समय कटेगा।"

छत लाँघकर जाना मेरे लिए उतना ही दूभर था, जितना रावणके लिए धनुष्यकी रेखा लाँघना। पहिले दरजेके सीधे आदमी जान पड़ते थे। परन्तु यहाँ तो मनमें असंख्यों गुत्थियाँ ऐंठी हुई थीं। उनके बौड़मपनका अनुचित लाभ उठाना ठीक न समझकर मैंने कहा—"अभी तो आप क्षमा कीजिए। कुछ आवश्यक

काममें जुटा हूँ। दो-चार चिट्ठियाँ इष्टमित्रोंको लिखनी हैं। सायंकालको अवश्य सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा।"

बोले—"अच्छी बात है—अच्छी बात है—शामको अवश्य। चायका निमंत्रण देता हूँ आपको।—अच्छा?"

मैं चला आया। मनके ऊपर आँधियाँ चल रही थीं। ऐसा सरल, निष्कपट व्यक्ति मैंने कहीं नहीं देखा। निकट आना चाहता है। मैत्रीकी इच्छा रखता है। सोचा, क्या यह ठीक होगा? क्या उसीकी भाँति मैं भी स्निग्ध, निष्कपट व्यवहार कर सकूँगा? मैं तो सरल व्यक्ति नहीं हूँ। मेरे मनकी ग्रंथियोंका किसीको अनुमान तक नहीं है।—इतना सरल होना भी अच्छा नहीं। जिसे देखो उसीसे लिपटता फिरता है। प्रत्येकसे मित्रताकी आशा रखता है। समाजमें ऐसे व्यक्ति अनेकों होते हैं। उनकी सिधाई सामाजिक बोझ बन जाती है। लोग उनसे कतराने लगते हैं। बातें करनेमें ऊब जाते हैं। यह भी उसी जातिके जीव हैं। राह-चलते यात्रीके गले लगना चाहते हैं। सोचते-सोचते उनके प्रति घृणा-सी होने लगी। भले आदमी अवश्य हैं। पूरे बौड़म भी हैं। अपना निजी व्यक्तित्व मानो है ही नहीं। ये लोग उथले हृदयके होते हैं। निमंत्रण दे गए हैं। केवल दो ही बातोंमें मुझसे प्रभावित हो उठे हैं।—मैं नहीं जाऊँगा। उन्हें आवश्यकता है तो स्वयं ही इधर चले आयेंगे। यह सोच ही रहा था कि उनका नौकर आया। बोला—"बाबूजी आपकी राह देख रहे हैं। चाय ठंडी हो रही है। जल्दी चलिए।"

कहना चाहा कि नहीं आऊँगा, जा कह दे अपने बाबूजीसे। उन्हें आवश्यकता हो तो यहीं आ जायँ। फिर सोचा, नई-नई

पहिचान है, बुरा मान जायेंगे। चल दिया नौकरके साथ। बैठकमें दो कुर्सियाँ लगाकर मैनेजरसाहब बैठे हुए थे। तश्तरियोंमें नमकीन और दो प्याले चाय मेज़पर रक्खी हुई थी। मुझे देखकर वे उठ खड़े हुए। बोले—"आइए। देखिए, चाय कबसे आपकी प्रतीक्षा कर रही है!" मैं बैठ गया। कहने लगे—"आज ही हम लोग आये हैं। अभी सामान ठीक ठीक सँजोया नहीं गया। जो कुछ गर्म था—सोचा, आप पराए थोड़े ही हैं। घरके ही आदमी ठहरे।"

केवल एक ही दिनके परिचयसे मैं अपना व्यक्ति बन गया था। मन ही मन मुस्कराया, किन्तु बोला नहीं। चायके प्यालेको अपनी ओर खींचकर पीना आरम्भ कर दिया। शकर बहुत कम थी। कदाचित् वे लोग मीठा कम पसन्द करते थे। मैनेजर-साहबने एक घूँट पी तो चौंक-से पड़े। बोले—"राम-राम, चाय तो एकदम फीकी है। कैसे गँवारोंसे पाला पड़ा है। राम-राम! अरे ओ कल्लू....अरी रजनी—ओ रजनी!"

किसी लड़कीके कंठसे उत्तर मिला।

बोले—'अरी बेटी, थोड़ी-सी शकर और लाकर दो। अच्छा आतिथ्य कर रहे हो तुम लोग। कोई भला आदमी क्या कहेगा?"

उनका संकोच देखकर मैंने कहा—"रहने भी दीजिए। चाय मीठी तो हो ही रही है। अधिक मिठास भी तो अच्छी नहीं होती।" इतनेमें लड़की कटोरीमें शकर लेकर वहाँ आई। टेबिलपर रख कर जाने लगी तो मेरी दृष्टि यों ही उसकी ओर चली गई। आँखें चार हुईं। समूचा शरीर बिजलीका-सा धक्का खाकर काँप उठा।

हाथसे प्याला टेबिलपर लुढ़क पड़ा। वह बोले—"देखिए, देखिए; कपड़े खराब हो जायेंगे!"

वह चली गई। मैनेजर बोले—"अरे, दूसरा कप ले आओ, बेटी," मुझसे कहने लगे—"प्याला फिसल पड़ा होगा। आप संकोच न कीजिए। चाय और आई जाती है।" नौकर दूसरा कप लेकर आया। किसी प्रकार अपने बाहरी भाव तो छिपा लिए थे। किन्तु अन्दर जो धड़ाका हुआ, उससे मेरा स्नायु-मंडल मानो छिन्न-भिन्न हो गया। मैनेजर कह रहे थे—"मुझे तो साहब, चायकी ऐसी लत पड़ गई है—ऐसी लत पड़ गई है—क्या कहूँ...." और, मैं अपने विस्मित मनसे पूछ रहा था—"तो, यही रजनी है!"

सोचा था कि चाय पीकर शीघ्र ही चला आऊँगा। पहिले ही दिन अत्यन्त घनिष्ठता बढ़ा लेना अनुचित लगा। मैनेजर सीधे, सरल प्रकृतिके थे। किसी भी व्यक्तिका प्रभाव उनपर पड़ सकता था। मेरे प्रति उनकी भावनाएँ पहिले ही दिनसे स्निग्ध हो गईं। डरता था कि अत्यन्त नैकट्य होनेपर कहीं उसमें ढीलापन न आ जाय। उन्हें अपनेसे प्रभावित होते देख मैं फूला नहीं समाया। एक बार अपने आकर्षणमें फँसा हुआ देखकर सरलतासे उन्हें निकल भागने देना मैं नहीं चाहता था। संसारमें ऐसे एक व्यक्तिकी मुझे आवश्यकता थी, जिसे कि अपना अनुगत बना सकूँ, जो मुझे सर्वोत्तम व्यक्ति समझता रहे। बिना किसी तर्क और सन्देहके, नतमस्तक होकर जो कहूँ सो मानता जाय। मैनेजर मेरे मनोनीत व्यक्ति थे। एक बार जान-पहिचान होनेपर अन्त तक मैं यही चाहता था कि वह मेरे ही बने रहें। इस

इच्छाके मार्गमें लोग बाधाएँ अवश्य खड़ी करते। किन्तु उससे पहिले ही उनपर पूरी तरह हावी हो जाऊँगा—ऐसा मेरा विश्वास था। फिर संसार चाहे जो कुछ कहे, वह मेरे विरुद्ध कभी न उठ सकेंगे। मानो मेरे और संसारके बीच रस्साकसी चल रही है। मैनेजर उसकी मध्यग्रन्थि है। जिस ओर वह झुके उसी ओर विजय होगी। सोचा था कि जान रहते तो ऐसा नहीं होने दूँगा। यदि कोई बाधा बनकर आया तो मिटा दूँगा उसे। किन्तु 'रजनी' में प्रदर्शिनीकी उद्धत छोकरीको पहिचानकर मेरे विचार आपसमें ही टकराकर धूल हो गए।

उसी समय घर लौटकर न जा सका। चार घंटे वहाँ बैठा रहा। लगा कि मैनेजरसे यह पहिला प्रेमालाप है, और यही अन्तिम भी होने जा रहा है। ज्यों ही मैं चला कि रजनी आयेगी। कहेगी, कैसे अवांछनीय मनुष्यको उन्होंने घरमें ला बिठाया है। मैनेजरकी अबोध सरलताको विस्मयका तीक्ष्ण आघात लगेगा। तब रजनी प्रदर्शिनीकी घटनाएँ आद्योपान्त सुना देगी। बैठे-ही-बैठे मैंने एकबार चौंककर भीतरी द्वारकी ओर देखा। वहाँ कोई नहीं था। लगा कि आड़में होकर रजनी मुझे देख रही है। होंठोंपर व्यंग और आँखोंमें घृणा उफन रही है। कंठमें तिरस्कार मचल रहा है। सोचती होगी, देखो तो नीचको, कैसा सभ्य और सुसंस्कृत बना हुआ है। पिताजी सीधे-सादे मिल गए हैं न? पट्टी पढ़ाने आया है उन्हें। अच्छी बात है, अभी जाने दो। देखूँगी, दुबारा इस घरमें पाँव कैसे रखता है!—बैठे बैठे मैं सिहर उठा। कहीं वह इसी समय न आ जाय! कनखियोंसे बार-बार दरवाजेकी ओर झाँक लेता था।

मैनेजर साहबकी गप्पें समाप्त होती ही न थीं। जान पड़ता कि आज ही सब कुछ बोल देंगे। मैं बीच-बीचमें 'हाँ' या 'ना' कर दिया करता। ऊब गया था, किन्तु घर जानेका साहस नहीं होता था। जाते ही इधर जो विस्फोट होगा, उसीकी संभावना मुझे पत्थर बनाए दे रही थी। मैनेजरको अपनेसे परोक्षमें होने देनेकी इच्छा नहीं थी। सोचा जितनी देर हो सके, यहीं बैठा रहूँ। उनके निश्छल स्नेहका जितना अधिक उपभोग हो सके, उतना अच्छा। कलसे देखते ही कन्नियाँ काटेंगे। मुझे भी मुँह दिखाते शरम लगेगी। हो सकता है कि यह पड़ोस ही छोड़कर जाना पड़े। अपने ही पार्श्वमें किसीकी घृणा पल्लवित होते देख कैसे सकूँगा? मैनेजर एक प्रसंगसे फिसलकर दूसरेकी भूमिका बाँधकर कहने लगे—"उधर जिस मकानमें हम लोग रहते थे, वहाँ दो वर्ष कैसे बीत गए, यह सोचकर मुझे आश्चर्य होता है। न तो मकान अच्छा, न मकान-मालिक भला मानुस। आयेदिन झगड़ा मोल लेना पड़ता था। पड़ोस ऐसा था कि समान श्रेणीका एक भी व्यक्ति नहीं। मोहल्लेभरमें कूँजड़े रहा करते थे नीच जात; मुँह लगानेसे अपने ही सम्मानपर कीचड़ उछलता है। यहाँ आकर सन्तोष तो मिला। पड़ोसमें आप हैं। सम्मान्य व्यक्तिके निकट होना एक पुण्य है, भाईसाहब!"

उनके मुँह अपनी गाथा सुनकर मेरी विचित्र दशा हो गई। लगा, मैं एक लुटेरा हूँ। सर्वस्व लूटने आया हूँ। मेरा वास्तविक रूप न जानकर भला मानुस समझे बैठे हैं। यह कल्पना हृदयको बारम्बार कचोटने लगी। आँखें फिरसे दरवाजेपर जा लगीं।

सन्देह हुआ कि मेरी प्रशंसा सुनकर कोई हँस रहा है—दाँत पीस रहा है। अचानक मैं विचलित हो उठा। मैनेजरको रोककर मैं बोला—"आप मनुष्योंकी श्रेणीका सम्मान करते हैं, व्यक्तिका नहीं? आपकी यह भावना तो अच्छी नहीं है।"

अब तक मैं उनकी हाँमें हाँ मिलाए जा रहा था। इस बार यह विरोध सुनकर वे सकपका गए। अत्यन्त दबे स्वरमें उन्होंने पूछा—"यह तो सामान्य भावना है। श्रेणीभेद कहाँ नहीं है, बताइए?"

मैंने कहा—"श्रेणीभेद सर्वत्र है। मैं कब अस्वीकार करता हूँ? किन्तु संसार जिस बातको मानता है, क्या यह आवश्यक है कि आप भी आँख-कान मूँदकर उसीको मानें? कुँजड़े आपकी अकृपाके पात्र हैं। आप कभी इस सम्भावनापर विश्वास कर ही नहीं सकते कि उनमें कई ऐसे भी होंगे जो आप और मुझसे कहीं अधिक सभ्य और सुसंस्कृत विचारोंवाले हों।—मेरा आदर आप करते हैं। क्योंकि मैं ब्राह्मण हूँ। आपकी ही जातिका हूँ। परन्तु मैं अन्दर ही अन्दर क्या हूँ, यह कह सकते हैं आप?—जानते हैं आप कि—"

इसी समय भीतरसे रजनीका कण्ठ फूट पड़ा।—"बाबूजी, नौ बज गए हैं!"

मैनेजर हाथकी घड़ी देखने लगे। बोले—"अरे रे, हमें गप्पोंमें कितना समय हो गया!"

रजनीका स्वर सुनकर मुझपर एक बरफीली लहर-सी दौड़ गई। देखा, मैनेजर जानेको थे। मुझे आवेश हो आया। मैंने

कहा—" मैं भी जाता ही हूँ। आपकी मुझपर जो दया है, तदर्थ सैकड़ों धन्यवाद। किन्तु एक बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ। आप लोगोंको श्रेणी विशेषमें रखकर उनका अध्ययन न किया करें। प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर अलग दुनिया होती है। यह उसकी बाहरी दुनियासे नितान्त विभिन्न और विचित्र है। वहाँ चन्द्र-सूर्यका प्रकाश नहीं है। ऐसा अन्धकार है कि मनुष्यकी आँखें उसे चीर नहीं सकतीं। वहाँ गुलाब और कमल नहीं खिलते। ऐसी सड़ाँध वहाँ भरी है कि दम घुटने लगता है। वह व्यक्तिकी अपनी दुनिया है। उसका छोर ढूँढ़े नहीं मिलता। श्रेणीभेदका उस संसारपर प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्तिके बाहरी रूपसे लोग धोखा खा जाते हैं। मुझे ही ले लीजिए। पढ़ा-लिखा हूँ। सभ्य हूँ। लोगोंसे चिकनी-चुपड़ी, लुभानेवाली कथाएँ कह-सुन सकता हूँ। किन्तु, मेरा वास्तविक रूप क्या है, जानते हैं आप ?"

वह मुँह बाये हुए मुझे घूर रहे थे। मेरे शब्दोंकी गहराईमें पैठना चाहते थे, किन्तु खोखली तूम्बीकी भाँति उनकी बुद्धि सतहपर ही तड़पकर रह जाती थी।

" मैं घोर नीच और पाखण्डी व्यक्ति हूँ। मेरे हृदयमें समूचे संसारके प्रति घृणा और द्वेष भरा हुआ है। ऊपरसे निर्दोष, निष्कपट दीखता हूँ। परन्तु मेरे अन्दर अगणित काले साँपोंका विष भरा हुआ है। जो मुझसे प्रभावित होता है, वही मूर्छित हो जाता है। मैं उसे मिटा देना चाहता हूँ। उसका सर्वनाश बुला लाता हूँ।"

वे डर गए थे। टकटकी बाँधे हुए, काँपती अँगुलियोंसे टेबिलका कोना पकड़कर, उसपर झुके हुए मेरी बातें सुन रहे थे।

"आप क्या कह रहे हैं—मनोहर बाबू? मुझे तो आपकी बातें समझमें आती ही नहीं।"

मैंने कहा—"आप बहुत जल्द समझ जायेंगे।"

और एक बार लगा कि मेरी बातें कोई सुन रहा है। सोचा, यह मेरी विजय है। शतरंजमें दूसरेकी चाल भाँपकर अपना बचाव कर सकनेमें खिलाड़ीकी जो मानसिक दशा होती है, वही मेरी हो रही थी। मैं और भी अधिक अभिभूत होकर बोला—"आप सरल, निष्कपट प्रकृतिके जीव हैं—मैनेजर महाशय! मनुष्यके अन्दर कितनी पेचीदगियाँ होती हैं, आप सोच नहीं सकते। मेरे विषयमें जैसी धारणा आपने खड़ी कर रक्खी है उसे ढहा दीजिए। नहीं तो, आपकी हानि हो सकती है।"

अबकी वह सचमुच घबरा गए थे। सोचते होंगे, इस भीषण जन्तुको घरमें लाकर क्यों बिटा दिया? उनकी घबराहटसे मुझे बड़ा आनन्द मिल रहा था। वे कई बार कुर्सीसे उठ-उठकर बैठ गए। भागकर जाना चाहते थे, परन्तु साहस नहीं होता था। कदाचित् अपना ध्यान बँटानेके लिए उन्होंने पुकारा—'अरी, रजनी, बेटी, इलायची दे जाओ। आज न जाने मुँहका स्वाद बुरा-बुरा-सा क्यों हो रहा है।"

मैं एकाएक उठ खड़ा हुआ। बाहर आनेसे पहिले एक बार घूमकर देखा। रजनी इलायची लेकर कमरेमें आ गई थी। उसकी आँखोंका भाव इतना स्पष्ट था जैसे दोपहरका सूर्य। वहाँ व्यंग

था; घृणा थी; द्वेष, भय और तिरस्कार था। जैसे वे आँखें मुझपर गड़ी जा रही हों। मैंने शीघ्रतासे पाँव बढ़ाये। कमरेमें पहुँच कर ऐसी साँस ली. मानो दर्जनों गोते खाकर आ रहा होऊँ। सोचता था कि नींद नहीं आयेगी। इसके विपरीत मैं ऐसा सोया कि पिछली कई रातोंसे नहीं सो सका था। एक प्रकारके हलकेपनका अनुभव हो रहा था। जैसे, मनपरसे पहाड़-सा बोझ टल गया हो। मैनेजरको अपना सच्चा परिचय देकर बुरा नहीं किया। कभी-न-कभी मेरे विषयमें उन्हें जानकारी होनी ही थी। उन्हें भुलावा देते रहनेमें मस्तिष्कपर जो दबाव पड़ता, उसे सहन करते रहना मूर्खता होती। अच्छा हुआ, धोखेमें नहीं रहने दिया। अब जिसे जो कुछ कहना हो, कहता रहे। कोई चिन्ता नहीं। मैनेजरके लिए भी वह नई बात न होगी। स्वयं मेरे ही मुँहसे उन्होंने सच-सच सुन लिया है। सोचेंगे, बुरा आदमी है तो क्या हुआ; धोखेबाज तो नहीं है? सच बोलनेमें झिझकता तो नहीं? ऐसा वह अवश्य सोचेंगे। इस विचारसे नींदकी झूममें भी मुझे मुस्कराहट छू गई। इतनेपर भी मैनेजरके सरल हृदयमें मेरे लिए एक स्थान बचा रहेगा। उस कोमल स्थानमें कई दिनों तक स्मृतिका स्पन्दन जारी रहेगा और धीरे-धीरे क्षीण होता जायेगा। एक दिन वह मुझे भूल जायेंगे।—यही सोचते-सोचते मैं सो गया। नींद खुलनेपर पहिला विचार आया कि टहलनेके लिए अब छतपर जाना ठीक नहीं। क्या जाने किसका सामना हो। कल रात रजनीने तमाम बातें उन लोगोंपर प्रकट कर दी होंगी। ऊपर जाते ही कहीं मैनेजरसे चार आँखें न हो जायँ। मुँह फेर लेंगे। नीचे चले जायेंगे।

कदाचित् गुमाश्तेको बुलाकर कहें कि छतोंके बीचकी दीवार ऊँची कर दो। उधर जो आदमी रहता है, अच्छे चरित्रका नहीं है। हम तो परिवारवाले हैं। अपनी तो इज्जत है, लोकलाज है।—इस प्रकारकी छिन्नमूल कल्पनाएँ मुझे बहुधा पीड़ित किया करती हैं। शून्यमें असम्भव अस्तित्वका निर्माण करके, उसे देख-देखकर डरा करता हूँ। दीवार खड़ी होनेका विचार करते-करते मैं विचलित हो गया। आज ही कारीगर आयेंगे। ईंटें आयेंगी। दीवार उठने लगेगी। कोलाहल होगा। मनुष्यसे ऊँची दीवार बनेगी। अड़ोस-पड़ोसके लोग देखेंगे। पूछेंगे, क्या बात है? एक मेरे कारण, केवल मेरी श्येन दृष्टिसे बाल-बच्चोंको बचानेके लिए पड़ोसी सज्जन एक कुतुबमीनार खड़ी कर देंगे। वह दीवार आलोक-स्तम्भकी भाँति आसपासकी जनतापर प्रकाशित करेगी कि यहाँ आशंका है। यहाँ पाषाण है कि टकराकर चरित्रकी नाव डूब जायेगी। यहाँ इसी दीवारकी छायामें पिशाच बसता है, जो तुम्हें खा जायेगा। साँप है जो तुम्हें काट लेगा। बिच्छू है; बर्र है; मच्छर, पिस्सू, कीड़ा—नारकीय कीड़ा है, जो स्वयं सड़ता है और दूसरोंको सड़ाता है।

क्या बढ़िया प्रदर्शन है! वाह! मैं जिससे बच जाना चाहता हूँ वही बात बार-बार सामने आकर खड़ी हो जाती है। जान पड़ता है, यह संसार हाथ धोकर पीछे पड़ गया है।—जब ऐसा होना ही है, और लाख प्रयत्न करनेपर भी मैं उसे रोक नहीं सकता, तो व्यर्थकी चिन्तासे क्या लाभ? मैं क्यों किसीसे डरूँ? किसीको अपने सम्मानका ध्यान है; मुझे उसकी चिन्ता क्यों? मैं तो जाऊँगा अपनी छतपर! मेरा घर अपना है। उसकी छत

मेरी छत है। अवश्य जाऊँगा। जिसे आशंका हो, हट जाय सामनेसे। दीवार बना ले, चीनकी दीवार, मिश्रका पिरामिड बना ले। दूसरेके लिए अपनी आँखें मैं क्यों बन्द करूँ? चारपाई छोड़ मैं उठ खड़ा हुआ और सीधा छतपर जा पहुँचा। न मुँह धोया था, न दातून ही किया था, उसी अस्त-व्यस्त रूपमें ऊपर जाकर पहली दृष्टि जिसपर पड़ी, वह रजनी ही थी। उसने मुझे छतपर आते नहीं देखा था। छोटा भाई साथ खड़ा था, उसे कुछ दिखा रही थी। मैं ठिठक गया। लौटनेकी इच्छा हुई, किन्तु लौटा नहीं। सोचा, डरूँ किसलिए? उसे हिचकिचाहट हुई तो चली जायेगी। वहाँ उसे देखकर क्षण-भरके लिए मेरा जी जल उठा। इस लड़कीने मुझे तिरस्कृत करनेमें कुछ भी कसर बाकी नहीं रक्खी। अब पड़ोसमें आ गई है। यहाँ भी चैनसे नहीं रहने देगी।

उसने देख लिया। अब क्षण-भर भी वहाँ नहीं ठहरेगी। किन्तु मेरा विचार झूठ निकला। वह नहीं गई; मुझे देख कर भी नहीं गई। उलटे मेरी ओर दिखाकर भाईसे कहने लगी—"अरे देख, मुन्ना, वह मनोहर बाबू खड़े हैं। नमस्ते कर तो उन्हें।" मेरे विस्मयका बाँध रोके नहीं रुका। वह कहती, देख मुन्ना, वह जन्तु जो खड़ा है, उसे गुण्डा कहते हैं, तो मुझे किंचिन्मात्र भी आश्चर्य न होता। एक दिन इसी चित्ताकर्षक उपाधिसे मुझे विभूषित कर चुकी है। उसी शब्दकी पुनःश्रुतिसे मैं फूलकर यदि कुप्पा नहीं हो जाता, तो अत्यधिक बुरा भी न मानता। बालकने दोनों हाथ जोड़ कर नमस्ते कहा, तो मुझे भी बलात् उत्तर देना पड़ा। वह मुसकरा रही थी। उसकी इस

हँसीका अर्थ समझमें नहीं आया। रहस्यमय लड़की है। उसे खड़े-खड़े मुसकराते देख मुझे बिल्लीका स्मरण हुआ, जो निगल जानेसे एक क्षण पूर्वतक चूहेसे खेलती रहती है। रजनी मेरे विक्षोभसे अठखेलियाँ कर रही थी। निर्लज्ज, निर्दय कहींकी! इतना बड़ा तिरस्कार करनेपर भी मेरी ओर देखकर मुस्करा रही है। इतनेमें दीवारके पास आकर वह बोली—"मनोहर बाबू, पिताजी हमें कल आपके विषयमें बता रहे थे। आपकी बड़ी प्रशंसा करते थे।"

मुझे लगा, पिताजीकी आड़में मेरा उपहास कर रही है। आग लग गई सारे शरीरमें। कहा—"आप तो मुझे जानती हैं। आपने क्यों उन्हें तारीफ करने दी?"

वह आश्चर्यसे मुझे देखने लगी। मानो पहिचाननेका प्रयत्न कर रही हो। बोली—"आपको भला कैसे जानती? कभी तो देखा नहीं।" क्या सुन्दर अभिनय है! मैं कहनेको था कि भूल गईं आप प्रदर्शिनीके अभागे गुण्डेको। परन्तु बिजलीकी तेजीसे एक विचार मस्तिष्कमें दौड़ गया। हो सकता है कि सचमुच पहिचान न सकी हो। बहुतोंकी स्मरणशक्ति दुर्बल होती है। मुझे सन्देह भी हुआ कि यह अपरिचय केवल एक स्वाँग है। इस लड़कीसे मैं डरने लगा था। भरी नुमाइशमें मेरा अपमान वह कर सकी थी। परन्तु यदि नहीं पहिचान सकी हो तो अपना परिचय देना मूर्खता है। नये सिरेकी जान पहिचान ही अच्छी लगी। बोला—"नहीं, नहीं, मुझे ही सन्देह हुआ था कि कहीं आपको देखा है। वह भ्रममात्र था। किन्तु आप भूल करती हैं, यदि पहिली ही बार मुझे सज्जन व्यक्ति मान लें।"

बोली—"कल पिताजीसे भी आप यही कह रहे थे। आपपर बड़े प्रसन्न हैं। कहते थे मनोहर बाबूके समान स्पष्टभाषी और निश्छल व्यक्ति कम मिला करते हैं।"

मैं कुछ कहना चाहता था कि नीचेसे उसकी पुकार हुई। "अच्छा, जाती हूँ। नमस्ते।"—कहकर, भाईको लिए हुए, वह चली गई। मनकी आँधीमें डालसे टूटे पत्तेकी भाँति उड़ता, डगमगाता, काँटोंसे छिदता, उलझता, कई क्षणोंतक मैं छतपर इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। मुझे बार-बार बिल्ली और चूहेके खेलकी याद आती। क्या रजनी मुझसे खिलवाड़ कर रही है? इतनी निर्द्वन्द्व?—इतनी निर्भय?

बबूलसे छूटकर काँटोंमें उलझनेकी जो कहावत है, वह मुझपर अक्षरशः लागू हो सकती है। मुझे न पहिचाननेकी बात जो वह कह गई थी, वह ऐसा असम्भावित सत्य था कि मन उसे मान लेनेमें बार-बार झिझकने लगा। एक दिन पुलिसके आतिथ्यद्वारा मुझे सम्मानित करनेका प्रण वह कर चुकी थी। मनुष्योंकी एक जमातके समक्ष मुझे गुण्डा कह देनेका पुरुषोचित साहस रजनीने किया था। आज पहिचानकर भी यदि वह सोचे कि न पहिचाननेकी प्रतीति देकर मेरे गुण्डेपनपर सज्जनताके अंकुर उग आयेंगे, तो इसपर विश्वास कर लेनेकी पाषाणी मति मुझमें तो नहीं। दो दिनके ही व्यवहारसे मैं उसे पहिचान गया था। उसके लिए सभी कुछ सम्भव है। पुरुषोंसे निर्द्वन्द्व होकर जो लड़की हँसी-मखौल कर सकती है, उसके पौरुषकी थाह भला कौन ले सकता है? रजनी क्या है, किस धातुसे उसका हृदय बना है, वह कब क्या कर सकती है—यह सोचना मेरे

सामर्थ्यसे परे है। और समयको भी इसकी अपेक्षा नहीं है कि मुझे मेरी समस्याओंका समाधान प्राप्त हुआ, या नहीं। चौबीस-चौबीस घण्टोंके दिन एकके बाद एक बीतने लगे। मैनेजर साहबको पड़ोसमें आये दो महिने हो गये थे। जो कुछ नयापन था वह पुरानेपनमें बदल गया। मैनेजर और मेरे बीचका आकर्षण स्नेहकी मोटी डोर बन चुका था। उसमें स्वाभाविकताके बल पड़ गए थे। एक दूसरेसे ऐसे घुल-मिल गए थे कि लगता, बरसोंसे इसी प्रकार अड़ोस पड़ोसमें रहते आये हों। रजनी और उसके दोनों भाई भी मुझसे पर्याप्त हिल-मिल गए थे। मैं एक प्रकारसे उन्हींके परिवारका एक सदस्य बन चुका था। बाहरी संसारमें सब ओर शान्ति फैली पड़ी थी। प्रतिदिनकी जीवन-यात्रामें कहीं कोई एकावट नहीं। किन्तु बार बार लगता कि इस शान्तिके पीछे भीषण तूफान छिपा हुआ है। सदासे अशान्तिका सहचर रहा हूँ। बाहर चाहे जीवन कितना ही अचल क्यों न लगे, किन्तु मेरे अन्दर एक बेचैनीका समुद्र अहर्निश उमड़ा करता है। अगणित उलझनें काले काले साँपों-सी ऐंठती रहती हैं। मैनेजरके परिवारका वह निश्छल कोमल व्यवहार अस्वाभाविक-सा लगता था। किसी भी प्रकार समझमें नहीं आता था कि वे लोग मुझपर निःस्वार्थ ममता कैसे रख सकते हैं। विशेषकर, रजनी मेरे सान्निध्यमें खिसकती चली आ रही थी। 'मनोहर-बाबू' न कहकर मुझे 'मनोहर दादा' कहने लगी थी। सम्बोधनका 'आप' 'तुम' के सर्वग्रासी रहस्यमें खो गया था।

ये सारी बातें मन-ही-मन खटकती थीं। पड़ोसमें आते ही अनबन हो गई होती तो यह मानसिक उलझन न होती। क्यों

कि चारों ओरकी दुनियासे व्यक्तिकी टक्करें होती रहना ही मैं स्वाभाविक समझता हूँ। संसारमें यदि मनुष्य आँखें मूँदकर सीधा चल सकता, पद-पदपर ठोकर लगने अथवा कुँएमें गिर पड़नेका भय न होता, तो कपारपर दो आँखें लगा देनेका विधाताका अभिप्राय निर्मूल सिद्ध होता। संसार इसलिए है कि उसमें टकराहट है। जीवन इसलिए कि उसमें संघर्ष है, समाज इसलिए कि वह व्यक्तिको खा जाय, समूचा निगल जाय। अन्यथा व्यक्तिके अन्दरका संसार अपनी सीमाओंको तोड़-फोड़कर समाजपर बरस न पड़ेगा? उसे बाँधनेके लिए, उसके व्यक्तित्वको उसी तक सीमित रखनेके लिए समाजका निर्माण हुआ है। शत्रुता-मित्रता, स्नेह-विद्वेष, ममता-फूट, ये सब इसी उद्देश्यको लेकर समाजकी गतिको चालू रखते हैं। ये निरन्तर-संघर्षके उपकरण-मात्र हैं—इससे अधिक नहीं। मैनेजर और रजनीके साथ यह मेल-मिलाप केवल मानसिक द्वन्द्वको जन्म दे रहा था। उनके यहाँ आते-जाते, उठते-बैठते और बातचीत करते समय मैं यही समझता रहता था कि हम लोगोंमें अन्दर-ही-अन्दर महान् रस्साकशी चल रही है। सदा एक-दूसरेको धूल चटानेकी ताकमें लगे रहते हैं। विशेषकर रजनीसे मैं डरा करता था। वह बोलती थी; निकट आकर बैठती और खुलकर हँस लेती थी। पढ़ी-लिखी थी, इसलिए सामयिक चर्चा चलनेपर थोड़ा-बहुत तर्क भी कर लेती थी। वह विचित्र रूपसे मुँह सिकोड़कर बोला करती। यह उसकी स्वाभाविक चेष्टा थी; किन्तु मुझे लगता कि मेरे प्रति उसकी भावनाएँ स्निग्ध नहीं हैं। वह मुझे नितान्त तुच्छ समझती है। मुझसे बोलनेमें उसे घृणा होती है। मेरे ज्ञानको वह

इतना निकृष्ट समझती है कि उसपर चर्चा करना उसे रुचिकर नहीं लगता। बातें करनेमें उसकी आँखोंमें विशेष चमक-सी आ जाती। मानो आँखों-ही-आँखों मुझे जला देना चाहती हो। मानो मेरा अस्तित्व ही उसे खटकता हो। कह नहीं सकता कि यह कोरा अनुमान था, या इसमें सचाई भी थी। तो भी रजनीकी ओरसे मैं विशेष सतर्क हो गया। जब तक सामने रहती, मैं प्रत्येक गति-विधिपर दृष्टि रखता। प्रत्येक शब्दको तौल तौल कर नया नया अर्थ खोजता फिरता। विश्वास हो चला था कि रजनी हृदयमें मेरे प्रति द्वेष, या स्पर्धा, या ऐसी ही कोई भावना छिपाये हुए है। निश्छल व्यवहार वह नहीं कर सकती। मुझपर अकारण अपना प्रभाव डालना चाहती है। पिताके सम्मुख मेरी बातोंपर तर्क करके, उनके मनमें यह प्रतीति खड़ी कर देना चाहती है कि जहाँ तक ज्ञानका प्रश्न है मैं कोई असाधारण व्यक्ति नहीं हूँ।

तर्क करते-करते यदि कोई मुझसे परिहास करने लगे तो मैं बहक जाता हूं। कदाचित् रजनी मेरी इस दुर्बलताको भाँप गई थी। वह खिल्ली उड़ाने लगती। मुझे क्रोध आ जाता। तर्क करना छोड़ उसे डाँटना-फटकारना आरम्भ कर देता। इसपर वह कहती "हाँ, आ गए दादा, जमीनपर! कुछ सूझा नहीं तो लगे मुझपर गुस्सा होने।" मैं और भी आगबबूला हो उठता। मैनेजर बीच बिचाव करते। मैं नाराज होकर अपने घर चला जाता।

एक दिन बातों-ही-बातोंमें मैनेजर बोले—"स्त्रियोंके विषयमें आपके क्या विचार हैं? वे आपको पहेली-सी नहीं लगतीं?"

उनका यह प्रश्न मुझे बड़ा असंगत और अप्रासंगिक लगा।

'नारी एक पहेली है'—ये शब्द आजकल खूब सस्ते सूत्र बन गए हैं। कालिजके विद्यार्थियोंसे लेकर बड़े बूढ़ों तकको मैं यही रटते सुनता हूँ। मैनेजर साहबका प्रश्न सुनकर लगा, मानो दिनभर वह इन्ही शब्दोंको कंठाग्र करते रहे हैं। प्रश्न कर लेनेके उपरान्त मैनेजर साहब दोनों हाथ छातीपर रख कर चुपचाप बैठ गए। मानो अपना छोटा-सा वक्तव्य दुहरा कर नाटकका कोई अधम पात्र कृतकृत्य होकर ग्रीन-रूममें चला गया हो। मैंने कहा—"नारीको पहेली समझना नये युगकी एक ग़लत देन है। इसी युगने स्त्रियोंको अन्धकारसे प्रकाशमें ला पटका है। पहिले वे पुरुषोंकी ही छायामें रहीं। उनके अस्तित्वके विषयमें पुरुषको अलगसे विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।—"

मैं रुका कि मैनेजर शंका करें, मेरे तर्कपर कोई आपत्ति उठाएँ। किन्तु वे तो कठपुतली-से उदासीन होकर सुनते जा रहे थे। उनका पार्ट समाप्त हो चुका था। इससे अधिक उन्हें रटाया नहीं गया।—मैं बोला—"आज नारी प्रकाशमें आ खड़ी हुई है। पुरुषसे टूट कर उसके नए अस्तित्वका निर्माण हुआ है। नए स्थानकी आवश्यकता हुई। पार्श्वमें खड़ी इस अदृष्टपूर्व मीनारको देखकर पुरुष सकपका गया। देखना चाहता था कि इसकी जड़ें कहाँ तक हैं। नई वस्तु निराली लगती है। आजसे पहिलेका अप्रकाशित नारी-रहस्य कम गूढ़ नहीं। परन्तु युगकी इस सामान्य पहेलीको ही हल करनेमें पुरुष अपने आपको भूल गया है। नारी नाटक या सिनेमाका एक रंगीन दृश्य है। उसे देखनेमें पुरुष दर्शक बनकर अपनापन खो बैठता है—"

रजनी वहीं बैठी थी। उसपर कटाक्ष करते हुए मैंने कहा—"मैं तो स्त्रियोंमें पुरुषोंसे अधिक श्रेष्ठ तत्त्व नहीं पाता। उनमें आकर्षण है; रहस्य है। परन्तु पुरुषोंकी समता नहीं।"

रजनीके मुखपर तमतमाहट पानेकी आशासे मैंने उस ओर देखा। वह शान्त, निश्चल होकर बैठी हुई थी। मुसकराकर बोली—"मनोहर दादा, स्त्रियोंको सिनेमाका दृश्य बताकर आपने हमारा बहुत कल्याण किया है। श्रेष्ठताके अभावपर आपने जो संकेत किया, उसके विरुद्ध भी मेरा कोई दावा नहीं। नारीके शरीरका ही एक फोड़ा, पुरुष, यदि पकड़कर उसे पीड़ित करना चाहे तो मुझे विस्मय नही होगा। क्योंकि यही फोड़ेका स्वभाव है।--आपको वह कहानी याद है बाबूजी?" पितासे उसने पूछा।

"कौन सी कहानी बेटी?"

"एक घड़े और एक दानवकी। घड़ेसे निकलकर बहुत-सा निस्सार धुआँ एक दिन विशालकाय दैत्य बन गया था।—"

"अरे हाँ, हाँ, मैं जानता हूँ यह कहानी। अलिफ़लैलामें--" वे बोले।

"मूर्ख संसारको विश्वास नहीं हुआ कि एक क्षुद्र घड़ा पहाड़ जैसे दैत्यको जन सकता है। तो, संसारको पतियाकर अपनी लाज पोंछनेके लिए दानव पुनः धूम बनकर घड़ेमें समा गया। घड़ा ज्योंका त्यों अचल रहा। उसकी क्षुद्रता फूटकर टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गई। उसने शिकायत नहीं की कि दानवकी भारी-भरकम श्रेष्ठता उसके हृदयमें नहीं समा सकती।—मनोहर दादा, पढ़ी थी तुमने यह कहानी दर्जा चारमें?"

रजनी खिलखिला पड़ी। उसकी हँसी रोके नहीं रुकती थी। मैनेजर हतप्रभ थे और मुझे क्रोध आ रहा था। मैं बोला—"यह अकारण हँसी किस कामकी? हम लोग गम्भीर विषयपर विवेचन कर रहे हैं, और तुम हँस देती हो।"

बोली—"बुरा न मान बैठना, दादा। बाबूजी और तुम्हें गम्भीर बने, रोनी-सी सूरतें लेकर तर्क करते देख मुझे अकबकाई-सी लगती है। गम्भीरता मुझे अनावश्यक वस्तु लगती है। इसी लिए अकसर हँसा ही करती हूँ। निगोड़ी यह हंसी आ ही जाती है। रोके नहीं रुकती। बाबूजीने ठूंस-ठूंसकर दुलार मुझमें भर दिया है, जो धुएँके दानवकी भांति कभी-कभी फूट पड़ता है।"—पिताकी ओर देखकर वह मुसकराने लगी।

"धत्, मुँहलगी कहींकी!"—मैनेजर भी घुड़ककर हँस पड़े। गम्भीरताका वातावरण रुई-रुई बनकर उड़ गया।

भला मुझे क्यों हँसी आती? रुट होकर कहा—"देखिए साहब, आप कहते थे स्त्रियां पहेली हैं। बस यही हलकापन उनका रहस्य है। धुएंका-सा हलकापन। परन्तु उसमें कड़ुआहट भी होती है। आपकी आँखें खुल नहीं सकतीं। खोलें तो दुखती हैं। आँसू बहते हैं। देख नहीं पाते।—यही स्त्रियोंका रहस्य है।"

रजनी मुस्कराती ही जा रही थी। मैंने कहा—"जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मैंने जीवनका ध्येय बना रक्खा है कि स्त्रियोंकी छाया तकसे कोसों दूर रहूँ। डरता हूँ। इसलिए नहीं कि वे महत्तर हैं। किन्तु इसलिए कि उनकी क्षुद्रता कीचड़से भी अधिक अस्पृश्य है।"

मैनेजर बेपेंदीके कमण्डलु थे। मेरी ओर लुढ़के तो मेरा समर्थन करने लगे।

रजनी बोली—"आत्मप्रशंसा करना भी आजके पुरुषका प्रधान गुण है। स्त्रियोंके कीचड़में फँसकर आप भीष्म और हनुमान् कैसे बन सकेंगे?"

मुझे सिरसे पैरतक आग लग गई। तुम जानते हो कि कालिजमें मुझे 'भीष्म पितामह' कहकर लड़के चिढ़ाया करते थे। कड़ककर मैंने कहा—"नहीं रजनी, तुम भूल करती हो। हृदयसे भीष्म-सा बलवान् मैं नहीं हूँ। कैसे कैसे दुर्बल विचार मनमें उठते हैं, उन्हें गिनाना मैं उचित नहीं समझता।"

बोली—"यह भी आत्मप्रशंसाका नया ढंग है। बिलकुल मनोवैज्ञानिक ढंग। अपना विश्लेषण अपने मुँहसे करके यह बतलाना चाहते हैं कि आप कठोर सत्यवादी हैं। क्यों दादा, यही बात है न?"

मैंने कहा—"तुम वैयक्तिक आक्षेप करने लगी हो। विषयपर तर्क करना छोड़—"

"तर्क उससे किया जाता है, जिसे विषयका ज्ञान हो। स्त्रियोंकी छायासे भागनेवाला पुरुष उन्हींके विषयमें तर्क कैसे कर सकता है?"

मैं अवाक् हो गया। हार प्रत्यक्ष थी। बुरी तरह झल्ला उठा। मैनेजरकी ओर देखा तो वे मुसकरा रहे थे। अत्यन्त क्षुब्ध होकर मैं उठ खड़ा हुआ। मुझे जाते देख वे बोले—"अजी, बैठिए और थोड़ी देर। शाम ही है। अभीसे सोकर क्या कीजिएगा?"

मैं बोला—" नहीं, सोने नहीं जा रहा हूँ। जाकर कोई पुस्तक पढ़ूँगा।"

रजनी भी उठ खड़ी हुई। " रूठ तो नहीं गए दादा, ठण्डा पानी ला दूँ ?"

मैंने तड़पकर देखा। वह मुसकरा रही थी।

यह निश्चय था कि रजनी द्वेष रखती है। नीचा दिखानेके प्रयत्नमें रहती है। मेरा यह सन्देह और भी पुष्ट होता गया कि नुमाइशके दिनसे आज तक मुझे वह भूल नहीं सकी। किसी विशेष कारणसे उसने अपरिचयका यह स्वाँग रचा है। अवसर पाते ही ऐसा तिरस्कृत करेगी कि जीवनमें दुबारा सिर उठानेके योग्य नहीं रहूँगा। मैं भी अब इसी घातमें रहने लगा कि किसी प्रकार उसकी स्पर्धाका मुँहतोड़ जवाब दूँ। मेरी मानसिक शत्रुता बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि चौबीसों घंटे मैं यही सोचता रहता। वह मेरे जीवन-पथकी कण्टक बन गई थी। उसे उखाड़ फेंकनेकी मेरी इच्छा दुर्निवार हो उठी। मैनेजरके घर न जानेसे किसी सीमा तक इस संघर्षसे छुटकारा मिल सकता था। किन्तु मुझे लत पड़ गई थी। रजनीको वादविवादमें परास्त करनेकी कामना इतनी प्रबल थी कि सोचता कब शाम हो, और कब उनके यहां जाऊँ। नए पहलू, नए-नए दाँव-पेंच सोच कर जाता। किन्तु रजनीके परिहासरूपी अस्त्रसे प्रतिदिन पराजित होना पड़ता। अन्तमें क्षोभ इतना बढ़ गया कि मेरे अन्दरका पशु तिलमिला उठा। कम-से-कम मैं पुरुष तो था ही। स्त्रीको अन्तमें पुरुषके सम्मुख नतमस्तक होना ही पड़ेगा। दूसरे दिन छुट्टी थी। मैं घरपर ही था। उसी समय रजनी दोनों

भाइयोंको लेकर आ पहुँची। अपने घरमें उसे देख मैं तो चकित हो गया। सोती हुई बिल्लीपर यदि चूहा दौड़ पड़े तो वह मारे आतंकके उछल खड़ी होती है। वह इधर कभी नहीं आई थी। आज निस्संकोच उसे कमरेमें प्रविष्ट होते देख मैं अन्दर-ही-अन्दर सिहर उठा। बोली—"ये लोग मानते ही न थे। सुबहसे रट लगाए हैं—मनोहर दादाके यहाँ चलो; उनका घर देखेंगे।"

इतना कहकर वह मुसकराई। औपचारिक शब्दोंकी प्रतीक्षा न करके स्वयं ही कमरेमें इधरसे उधर टहलने लगी। बच्चे उसके पीछे लगे थे। मैं बैठा-बैठा देख रहा था। पुस्तकोंकी आलमारीके पास जाकर बोली—"बहुत सारी किताबें रख छोड़ी हैं आपने। मैं देख सकती हूँ इन्हें?"

"अवश्य, इसमें पूछनेकी कौन-सी बात है?"—मैंने उत्तर दिया। सोच रहा था कि वह क्यों आई मेरे घर। न जाने आज कौन-सा नाटक रचा है। आलमारीमें ताला लगा था। स्वयं जाकर खोलना पड़ा। वह एक-एक करके पुस्तकोंको निकालने-रखने लगी। मैं ठीक उसीके पीछे खड़ा था। उसे इतने निकट खड़ी पाकर शरीरमें हल्की-सी कँपकँपी दौड़ गई। दोनों बच्चे खेलते हुए छतपर चले गए थे। रजनीको कदाचित् ध्यान नहीं था कि मैं इतने समीप खड़ा हूँ। मैं उसकी पीठको देख रहा था। सिर नंगा किए हुए थी। वेणी पीठपरसे होकर कमर तक लहरा रही थी। एक पतला-सा जम्पर उसने पहिन रक्खा था। एकाएक लगा कि रजनी मेरे साथ अकेलेमें है। इसने मुझे कैसी भीषण मानसिक यंत्रणा पहुँचाई है? अभी मैं उसका प्रतीकार

करना चाहूँ तो कौन रोक सकता है मुझे? मारे आवेशके सारा शरीर काँपने लगा। साँस घुटने लगी। जीभ सूखकर तालूसे जा लगी, मानो सरेससे चिपका दी गई हो। रजनी सबसे नीचेके खानेकी पुस्तकें देख रही थी। मुझे लगा, मेरी अँगुलियोंसे होकर बरफकी शीतलता सारे शरीरमें व्याप्त हुई जा रही है। मानो अविरल धाराओंमें गल गल कर सारे हिमालयकी बरफ मुझीपर उँड़ेल दी गई हो। मेरे दाँत बजने लगे। स्प्रिंगलगे किवाड़ोंकी भाँति मैंने उन्हें आपसमें पीस दिया। उसी समय पुस्तक निकालकर वह खड़ी हो गई। आल्मारी बन्द करती हुई बोली—"यह पुस्तक मैं पढ़ना चाहती हूँ। दो दिनके लिए दे दीजिए।"—अचानक मेरा चेहरा देखकर बोली—"ऐसे क्यों हो रहे है आप? काँप क्यों रहे हैं? क्या बात है?"

जीभको तालूसे छुड़ाकर मैंने किसी भाँति अपने आपपर नियंत्रण किया। कहा—"नहीं, कुछ नहीं। आज कुछ तबीयत खराब है मेरी। यों ही कभी कमजोरी मुझे हो जाया करती है।',

उसी समय बच्चे ऊपरसे लौट आये। रजनी दोनों भाइयोंकी अँगुलियाँ पकड़कर कमरेसे बाहर चली गई। जाते समय बोली—"यह किताब लिए जा रही हूँ। परसों लौटा दूँगी—परसों।"

मैं लज्जा, क्रोध, विस्मय, आवेश, क्षोभ और तिरस्कारकी काली मूर्ति-सा वहीं खड़ा रहा। मेरा हृदय ग्लानिसे सिकुड़ा जा रहा था। कहीं उसने मुझे हाथ बढ़ाते देख तो नहीं लिया? वह अचानक किस लिए चौंक-सी पड़ी थी? चेहरेपर मेरे भाव उड़े-उड़े-से फिरते थे। उसने भाँप तो नहीं लिए?" मैं यंत्र

चालित-सा पुस्तकोंकी आल्मारी छोड़कर दरवाजेके पास गया। बाहर कोई नहीं था। जिस मार्गसे होकर रजनी गई थी, वहाँकी धरती, वहाँकी वायु मुझे अनुप्राणित-सी लगी। मानो उस धरतीकी, उस वायुकी सौ-सौ आँखें मेरे मनकी खिसियाहटको कुरेद-कुरेद कर पढ़े लेती हों। मानो रजनी मेरी भावनाको समझकर अपने मनके धिक्कार मेरे द्वारपर बिखेर गई हो। हैजा, चेचक और प्लेगके जीवाणुओंकी भाँति वे धिक्कार हवामें, धरतीमें, आकाशमें, दीवारोंमें, मेरे शरीरमें, मनमें, आत्मामें प्रवेश पाकर मुझे नोंच-नोंचकर खाने लगे। शरीरमें झुनझुनी व्याप्त हो गई। हाथोंके तलवों और कपालपर पसीने-की-सी शीतलता आ गई। बीते हुए आवेशकी प्रतिक्रिया सँभाल सकना पहाड़-सा दुरूह हो गया। दोनों हाथोंसे सिर पकड़ कर वहीं देहलीपर बैठ गया। शरीरमें कँपकँपी दौड़ रही थी। ज्वर-सा हो आया था। कोई आधा घंटा वहाँ बैठा रहा। इच्छा हुई, जाकर सो जाऊँ। उठकर अन्दर आने लगा कि पासहीमें कहीं किसीके हँसनेकी आवाज सुनाई दी। पहिचाना कि रजनी हँस रही है। हजारोंमें उसकी हँसी पहिचान सकता हूँ। किन्तु जिस ओरसे आवाज आई, उधर उसकी उपस्थिति सरासर अचिंतनीय थी। एक अनहोनी बात थी कि पड़ोसी मुसलमानके घरमें इस प्रकार निर्द्वन्द्व होकर रजनी खिलखिला सकती है। विस्मयसे मेरे पाँव जकड़ गए। मैं फिर वहीं बैठ गया। सोचा, वह क्यों गई जुलाहेके घर? पड़ोसी है, क्या इसी लिए? आज घर-घर दौरा करने वह निकली थी। यहाँ आ कर उसने मेरी जो कुछ चेष्टाएँ देखी हैं, उन्हें वह शायद दूसरेसे भी कह दे। परन्तु,—नहीं कहेगी। लड़कियाँ इतनी निर्लज्ज नहीं होतीं।

किन्तु वहाँ किसलिए गई ? ब्राह्मणकी लड़की मुसलमानके घर निस्संकोच कैसे जा सकती है ? सोचा, मुसलमान है, किन्तु बुड्ढा है; सत्तर-अस्सी वर्षकी अवस्था है । दोनों भाई साथमें हैं । मेरे घर भी आई थी । मैं मुसलमान नहीं हूँ । मुसलमान होनेसे क्या होता है ? और हिन्दू होनेसे क्या ? मैं उच्च जातिका ब्राह्मण हूँ । मेरे यहाँ विश्वस्त होकर वह आई थी । मैंने जो व्यवहार किया, वह तो चाण्डाल भी करते हुए हिचकता ।—कदाचित् वहाँ बैठी-बैठी सोचती होगी कि दो पड़ोसियोंमें कौन अच्छा है, और कौन बुरा । बुड्ढा प्रेमसे बातें कर रहा होगा । रजनीको 'बेटी' कहकर सम्बोधित करता होगा । उसके घरमें, उसके समीप बैठे रहनेमें कोई खटका नहीं है । तभी तो वह खिलखिला रही है । मेरे घर आकर वह मुसकराई अवश्य थी । किन्तु खुलकर हँस न सकी । क्यों ? वह समझती थी कि मैं ऐसा व्यक्ति हूँ जिसे दूसरोंकी हँसी गड़ती है । मैं मन-ही-मन उसपर कुढ़ा करता था । उसका बुरा चाहता था । उसे अपमानित करना, दुःख पहुँचाना; लूट लेना—उसके कौमार्यको दूषित करना चाहता था ।—छिः, मैं ऐसा व्यक्ति हूँ कि जिसका विश्वास नहीं किया जा सकता । स्वच्छ, निष्कपट हँसी मेरे सान्निध्यमें सुरझा जाती है । होंठोंपर आई हुई मुस्कराहट झुलसकर राख बन जाती है । मुझसे कहीं अधिक विश्वसनीय वह जुलाहा है । रजनी यही इस समय सोच रही होगी । वह हँसी जो मुझे सुनाई दी है, मुझीको लक्ष्य बनाकर फूटी है । मेरी करतूतों और आन्तरिक भावनाओंका यह उपहास है ।

बैठे ही बैठे और आधा घंटा बीत गया । मस्तिष्कमें ऐसी विकृति

उत्पन्न हो गई थी कि लगा बुरी तरहसे अस्वस्थ हो गया हूँ। उस समय भी हाथ-पाँव काँप रहे थे। जाड़ा लग रहा था। लगा कि बुखार आयेगा। उठकर अन्दर आनेको था कि सोचा रजनी थोड़ी ही देर बाद वहाँसे बाहर निकलेगी। पूछूँगा, किसलिए उधर गई थी? कहीं जाय, इसकी चिन्ता मुझे क्यों? स्वतंत्र प्रकृतिकी लड़की है। माता-पिताने उसके उस स्वभावका निर्माण किया है। अपनेसे निम्न कोटिके पड़ोसीके घर जानेमें उसे संकोच नहीं होता। उसीके माँ-बापको जब कोई चिन्ता नहीं, तो मुझे क्यों बुरा लग रहा है? एक बेढंगी जगहपर बैठा बैठा मैं इन तमाम उलझनोंमें अपने मनको जकड़ता जा रहा था। यह भी ध्यान न था कि सामनेकी सड़कपर आने-जानेवाले मुझे इस तरह देखकर समझते होंगे कि कोई पागल है, अथवा नशा किए हुए है। शरीरकी शिथिलता और कँपकँपी अबतक कम हो गई थी। किन्तु लगता था कि ज्वर आ गया है। उठकर खड़ा हुआ तो पैर लड़खड़ाने लगे। केवल एक ही घंटेमें इतनी दुर्बलता आ जायेगी—मैं यह सोचकर परेशान था। चारपाईपर आकर लेटा तो लगा बुखार तेजीसे चढ़ता जा रहा है। सिर घूम रहा था। साँस तेजीसे चल रही थी। आँखों और कपालकी शिराओंमें तीव्र धड़कन हो रही थी। मानो शरीरका सम्पूर्ण रक्त वहाँसे फूट-फूटकर बाहर निकला जाता हो। मानो कमरेकी दीवारें, उसकी छत, उसका फरनीचर बार-बार चारों ओर घूमते हुए मुझपर गिरे-गिरे पड़ते हैं। लेटनेपर शरीरकी कँपकँपी बढ़ गई। रोकना दूभर हो गया। मानो कोई दैत्य शरीरके अन्दर प्रविष्ट होकर झकझोर कर टुकड़े-टुकड़े किए दे रहा है। मैं लिहाफमें

लिपटकर गोला बन गया। ज्वर बढ़ता जा रहा था। अंगसे, रोम-रोमसे लपटें फूट रही थीं। दोनों नथुने ऐसे चल रहे थे, मानो लोहारकी धोंकनी। धीरे-धीरे लिहाफके भीतर इतना गर्म हो गया कि लगा चारों ओर दावाग्नि धधक उठी है।

बाहर मुँह निकालकर दो चार ठंडी साँसें खींच पाया था कि दूसरी तरफसे किसीके गानेका स्वर सुनाई दिया। जुलाहेके घर और इस कमरेके बीच केवल एक दीवार थी। उधरकी आवाज इधर सुनाई देना सरल था। बुखारकी तीव्रतासे कदाचित् कान भी तेज हो गए थे। धीरे-धीरे संगीतकी ध्वनि अधिक स्पष्ट सुनाई देने लगी। इस जुलाहेको कभी गाते हुए नहीं सुना गया। आज उसके कंठ खुलनेका कारण क्या है? रजनी वहाँ बैठी है। उसीने गानेका अनुरोध किया होगा। इतने थोड़ेसे समयमें लोग एक दूसरेके प्रति निस्संकोच कैसे हो सकते हैं। रजनी अपरिचित जुलाहेके घर खिलखिला कर हँस सकती है, और अपरिचित जुलाहा उसे सामने बिठाकर आलाप भर सकता है। अनोखी घटना थी। रजनीको देखो, वहाँसे टलनेका नाम नहीं लेती। यहाँ कठिनतासे दस मिनट ठहरी होगी। उधर उसे घंटा-भर हो गया है। कई दिनोंके परिचयकी अपेक्षा रजनी मेरे निकट नही आ सकी। घंटेभरकी मुलाकातमें जुलाहा उसका आत्मीय बन गया था। ज्वरसे हृदयकी धड़कन और रक्तकी तेजी तो बढ़ती ही है, किन्तु मनोवेगोंपर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ता होगा। उधरसे आते हुए संगीतके स्वरको सुनते-सुनते मैं एकाएक चंचल हो गया। जहर-बुझी सुइयाँ चुभने लगीं। यह भी न सोचा कि मुझे अत्यधिक मात्रामें ज्वर है। लिहाफ

फेंककर उठ खड़ा हुआ। वैसे ही हाँफते, डगमगाते पड़ोसीके द्वार तक जा पहुँचा।—टूटी-सी चारपाईके छोरपर रजनी बैठी थी। एक ओर एक भाई खड़ा था—दूसरी ओर दूसरा। सामने पृथ्वीपर दीवारके सहारे बुड्ढा बैठा हुआ था—

"—ज्योंकी त्यों धर दीनी चदरिया;
दास कबीरा ऐसी ओढ़ी...."

मेरे कदम देहलीके अन्दर पहुँचे थे कि गाना बन्द हो गया। जुलाहा हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। रजनी दरवाजेकी ओर पीठ करके बैठी हुई थी। बुड्ढेकी हड़बड़ाहटकी दिशा देख कर उसने भी मेरी ओर गर्दन घुमाई। देखते ही वह मानो झपटी और मेरे पास आकर बोली..."मनोहर दादा, यहाँ ?—"

जुलाहेकी कोठरीमें मेरा प्रवेश मानो इतना अतर्कित था कि दोनों बच्चे भी दौड़कर मेरे सामने आ खड़े हुए। विस्मयसे मुझे देखने लगे। एकने मेरा बायाँ हाथ पकड़ लिया और बुड्ढेकी ओर देख कर कहने लगा—"ये मनोहर दादा हैं!—मनोहर दादा!" उसके बाद मैं ही मनोहर दादा हूँ, मानो इसका प्रत्यय कर लेनेके लिए वह मेरा मुँह ताकने लगा।

"आइए बाबूजी, अन्दर आइए—" जुलाहेने कहा।

रजनी चुपचाप मेरे सम्मुख खड़ी थी। मैं कुछ कहना चाहता था। किन्तु क्या कहना था, इसका मुझे स्मरण ही नहीं रहा। दूसरे बच्चेने आकर मेरा दाहिना हाथ थाम लिया। उसे झकझोर झकझोर कर वह चिल्लाने लगा—"मनोहर दादा—मनोहर दादा!—" जुलाहा भी इस भीड़में आकर खड़ा हो गया। बोला—"खड़े क्यों हैं, बाबूजी? आइए, अन्दर आइए?"

मेरी आँखें फर्शके उस भागको छू रही थीं, जहाँ रजनी खड़ी थी। इस कोलाहल और विस्मयान्वित अभ्यर्थनाके बीच मेरे मन और आँखोंमें द्वन्द्वयुद्ध होने लगा था। रजनीकी ओर देखा चाहता, किन्तु आँखें उठती ही न थीं। इतनी देर बाद मुझे लगा कि मैंने यहाँ आकर गलती की है। मस्तिष्कपर जोर डाल-डालकर मैं यह जानना चाहता था कि यहाँ आया क्यों? गाना सुननेके लिए? रजनीसे मिलनेके लिए? अब मैं क्या सफाई दूँ? इच्छा हुई कि भाग जाऊँ यहाँसे। किन्तु बच्चोंने दोनों हाथ बाँध रखे थे। लगा कि झटका देकर छुड़ा दूँ—

"मनोहर दादा!"

मेरी पलकें उठीं और आँखें रजनीकी आँखोंसे जा मिलीं। वह अप्रतिभ आश्चर्यसे मुझे घूर रही थी। मेरे अन्दर-ही-अन्दर एक सिकुड़न उत्पन्न हुई। मानो मेरा सर्वाङ्ग जुगुप्सासे पुत गया हो। रजनीके नेत्र मुझे चुभ रहे थे। वह खोद-खोदकर मेरे हृदयको शायद परखना चाहती थी। मुझे लगा कि अपने चारों ओर घिरी हुई इस अनिवर्चनीय सकपकाहटको दूर फेंकना ही होगा। नहीं तो रजनीकी आँखें मुझे निगल जायेंगी। मैं हड़-बड़ाकर बोला—"बताओ, तुम यहाँ क्यों आईं?—बताओ न?"

उसी क्षण मानो किसीने गंगा और यमुनाका सम्पूर्ण जल मुझपर उँड़ेल दिया। मानो मैं सिकुड़-सिकुड़कर अत्यन्त क्षुद्र बना जा रहा हूँ। चारों ओर लज्जा और लघुताकी उच्छ्वसित बाढ़ उमड़ आई। मैं यह क्या कह बैठा? कैसा पागलपन है यह? रजनीसे इतना असंगत, इतना ठेठ आत्मीय प्रश्न

मैं कैसे कर सका ? उसी क्षण स्मरण हुआ कि जोरोंका बुखार आया था। अंग-प्रत्यंग जले जा रहे थे। इस स्मरणके साथ ही एक असहाय दीनताकी भावना मनमें उठी। मैं करुण स्वरमें बोल ऊठा—"मुझे बहुत जोरोंका बुखार है, रजनी ! जाता हूँ—मुझे माफ करना।"

और उठात् दोनों बच्चोंसे हाथ छुड़ाकर मैं बाहर निकल आया। वे लोग कहीं फिर मुझे पकड़ न लें, इस डरसे तेजीके साथ चल कर कमरेमें घुस गया। हृदय इतनी तेजीसे धड़क रहा था, मानो अभी उखड़ जायेगा। सामने ही चारपाई थी। किन्तु आँखें तैरनें लगी थीं। क्षण-भरके लिए दीवार पकड़ कर खड़ा हो गया। फिर आगे बढ़ा तो पैर लड़खड़ा गए। गिरते-गिरते एक बार जोर लगाकर चारपाई तक पहुँच सका। इच्छाके विरुद्ध दोनों पैर सिकुड़ गए, मानो मर गए हों। वहीं नंगे फर्श-पर लंबा होकर मैं लेट गया। शरीर बेहोश था, किन्तु मस्तिष्क चैतन्य। उठकर खड़े होनेकी शक्ति नहीं थी। दो कदमपर चारपाई थी। दरवाजेके पास ही दीवारसे सटकर फर्शपर मैं पड़ा हुआ था। रह-रह कर स्मरण होता कि रजनीके सम्मुख लज्जित होकर भाग आया हूँ। मेरी विचित्र दशा देखकर उसे विस्मय हुआ था। कदाचित् यहीं आ रही होगी। फर्शपर चित पड़ा देख क्या कहेगी ? उठूँ, किसी प्रकार चारपाईपर जाकर गिर पड़ूँ। किन्तु इसी हालतमें मुझे वह देख ले तो अच्छा। मन-ही-मन अकारण दयनीयताकी भावना उत्पन्न हो गई थी। चाहता था कि बेहोश हो जाऊँ। रजनी आकर देखे और दौड़कर अपने

पिताको बुलाकर ले आए। वे लोग उठाकर मुझे चारपाईपर रख दें।

कई मिनटोंतक वहीं पड़ा-पड़ा रजनीके आनेकी प्रतीक्षा करता रहा। बार बार जोरोंसे आँखें मींचता और कल्पना करता कि बेहोश हुआ जा रहा हूँ। ज्वरका तापमान अत्यधिक था। क्योंकि नीचेका फर्श बरफ-सा ठंडा लग रहा था। उस स्पर्शसे बार बार फुरहरी-सी चढ़ने लगती थी। सोचता था कि रजनी अभी तक क्यों नहीं आई? उसने मेरी दशा देख ली है। स्वयं भी तो कह आया हूँ कि मुझे बुखार है। शायद वहीं बैठी है। फिरसे गाना सुनने लगी है! कान लगा कर सुनने लगा। परन्तु कुछ भी नहीं सुनाई दिया। रजनी घर चली गई? यह जानकर भी कि मुझे बहुत जोरोंका बुखार है?—फर्श अधिकाधिक ठंडा होता जा रहा था। शरीरपर कंपनकी लहरोंपर लहरें दौड़ने लगीं। एकाएक ध्यान आया कि रजनी मेरी कौन है, जो सुध ले? मेरी शुश्रूषा वह भला क्यों करने चली? मेरे उसके बीच तो रस्साकशी चल रही है, ज्वरमें यह भी ध्यानमें नहीं आया! यहीं पड़ा-पड़ा मर भी जाऊँ तो रजनीकी बलासे! वह तो खुश होगी मुझे दम तोड़ते देखकर।—क्रोध आया कि यहाँ पड़ा हूँ, किन्तु इस समूची दुनियामें एक भी व्यक्ति नहीं कि सहारा देकर खड़ा कर दे। स्वयं ही उठनेका प्रयत्न करना होगा। अकेला जिया हूँ, अकेला मरूँगा।—आँखें खोलीं तो समूचा कमरा एकबार हिलकर तैर गया। जोर लगाया। दोनों हाथ ज़मीनपर टेककर दीवारके सहारे उठ खड़ा हुआ। पैर बार-बार डूब जाना चाहते थे। जान पड़ता था, घुटनोंकी हड्डी घुलकर मोम बन गई

है। खड़े-खड़े आँखोंसे एक बार चारपाईतककी दूरी नापी। अन्तिम जोर लगा कर छलाँग मारी। चारपाईपर आड़ा-तिरछा होकर गिर पड़ा। एक ओरकी पटिया कमरसे टकराई, तो दूसरी ओरकी सिरसे। आँखोंके सामने आतिशबाज़ीकी हजारों लाखों चिनगारियाँ फूट पड़ीं। हठात् एक चीख गलेसे निकल पड़ी—"आह! मर गया!"

"मनोहर दादा!"—रजनीका स्वर था!

"मनोहर बाबू!" मैनेजर साहब थे।

"बाबूजी—बाबूजी!"—उनका नौकर मुझे झकझोर रहा था।

"बेहोश हो गए हैं—" एक अपरिचित स्वर था।

"डाक्टर साहब, इन्हें आप देख लीजिए, और जो ठीक समझें दवा बता दीजिए। मैं नौकरसे मँगवा लेता हूँ।"—मैनेजर साहबने कहा था।

मैं सोच रहा था कि बेहोश क्यों नहीं हुआ जा रहा हूँ? पैर बेकार हो गए थे। कमर टूट-सी गई थी। सिरमें चोट लगनेसे मस्तिष्क शून्य-सा हो गया था। किन्तु बेहोश मैं क्यों नहीं होता? किसीने गोदमें उठाकर सीधा लिटा दिया। किसीने छाती तक लिहाफ ओढ़ा दिया। बगलमें थर्मामीटरका शीतल स्पर्श अनुभव हुआ, और नाड़ीपर किसीका हाथ आकर बैठ गया।

"हाई फीवर है—एक सौ पाँच!"

"अब क्या होगा, डाक्टर साहब?"—उस जीवन्मृत अव-

स्थामें भी मेरे कानोंने पहिचान लिया था कि यह प्रश्न रजनीने किया है।

"ऐसी कोई बात नहीं है। दवा देता हूँ; अभी एक खुराक और आधे घंटेके बाद दूसरी दे दीजिए। होशमें आ जायेंगे। फिर मुझे खबर दीजिएगा।

बाहर यह सब कुछ हो रहा था। इन लोगोंकी चिन्ता मुझपर बरस रही थी। असंख्य रेंगती हुई चीटियोंका-सा उसका स्पर्श मानो मैं अनुभव कर रहा था। बार-बार दुहरा-दुहरा कर सोचता कि बेहोश नहीं हूँ। सब कुछ जानता हूँ, समझता हूँ, सुनता हूँ। टूकटूक होती हुई देहके अन्दर मेरी सतत जागरूक चेतना ज्यों-की-त्यों जल रही थी। आखें बन्द थीं। किन्तु इच्छा करते ही मैं उन्हें खोल सकता था। मेरे चाहते ही चारों ओरकी चराचर वस्तुएँ मुझे दिखाई दे सकती थीं। किन्तु नहीं चाहता उन्हें देखना। जबतक बेहोशीका यह अभिनय है, तभीतक मैं सचमुच बेहोश नहीं होऊँगा। मानो आँखें खोलते ही मेरी चेतना सदाके लिए खो जायेगी। मन एक अज्ञातको जानना चाहता था। एक विराट् प्रश्नचिह्न मेरी चेतनाके पटलपर आकर बैठ गया था। क्या जानना चाहता हूँ? चारों ओर खड़े इन व्यक्तियोंमेंसे किसको जाननेके लिए मैं बेहोश नहीं होना चाहता? किसको जान लेनेके पश्चात् मैं सदाके लिए डूब जाना—मर जाना पसन्द करूँगा?—कौन है वह?—रजनी? रजनीको जाननेके लिए क्या यह प्राण उद्ग्रीव हो रहे हैं? अभी कुछ देर पहिले उसने पूछा था—"अब क्या होगा, डाक्टर साहब?" मुझे उसके स्वरमें कुछ लगा था! क्या

लगा था ? मानो—मानो—नहीं कह सकता कि मुझे क्या लगा—कैसा लगा !—इसी समय रजनीके स्वरने विचार-शृंखला तोड़ दी। नौकर दवा लेने गया हुआ था। रजनी और मैनेजर बातें कर रहे थे।

"—मैं तो इन्हें वहाँ देख कर घबरा गई थी, बाबूजी, आँखें ऐसी हो रही थीं, जैसे धधकते अंगारे। आते ही पूछने लगे, 'तुम यहाँ क्यों आईं ?' मुझसे कुछ कहते ही न बन पड़ा।"

मैनेजरकी ओरसे केवल "हूँ"--भर सुनाई दी।

रजनी कहती गई, "और उसीके बाद वहाँसे ऐसे भागे, जैसे भूत देखा हो।" कहते कहते वह खिलखिला पड़ी। बोली—"विचित्र स्वभाव है इनका !—है न, बाबूजी ?" अबकी भी उत्तरमें केवल 'हूँ' सुनाई दी।

"मुझे तो बिना कारण दया आती है इनपर।—न मालूम, मैं सोचती हूँ कि इन्हें...." कहते कहते रजनी रुक गई। किसीके अन्दर आनेकी आहट सुनाई दी। मैनेजर साहब बोल उठे—"क्यो रे मिली दवा ?"

"जी हाँ—" नौकरका स्वर था।

दवा आ गई है, यह जानकर मनमें एक प्रतिक्रिया तड़प उठी। ये लोग सबके सब मुझपर दयालु बनकर जो अनुग्रह कर रहे थे, वह असह्य लगने लगा। इच्छा हुई कि आँखें खोलकर कह दूँ, नहीं चाहिए आपकी दवा। आपकी कृपा माँगने मैं कब आया था ? उसी समय स्मरण हुआ कि जुलाहेके घर रजनीसे मैंने अत्यन्त दयनीय शब्दोंमें कहा था कि मुझे ज्वर है। उन शब्दोंको

उसने कृपाकी भीख समझा होगा। यह कोलाहल, यह डाक्टरका आगमन, यह दवा—सब उसीका फल है। आज निष्प्राण-सी देह लेकर मैं रजनीकी दयापर जीने जा रहा हूँ। सोचते-सोचते अपने आपपर घृणा होने लगी। आँखें बन्द होनेपर भी दिखाई दिया कि चारपाईपर पड़े मेरे शरीरको घेरकर ये तीनों व्यक्ति खड़े हैं। सोच रहे हैं कि मैं बेहोश हूँ। शायद यों ही मर जाऊँ। प्रत्येक व्यक्ति मेरे विषयमें विचित्र विचार कर रहा होगा। मैनेजर सोचते होंगे कि यह भी अच्छी विपत्ति आई। पड़ोसी होनेके नाते यह तीमारदारी भी उन्हींके मत्थे पड़ी। डाक्टरकी फीस भी उन्हींकी जेबसे गई होगी। रुपयेकी चपत सभीको बुरी लगती है। रजनी सोचती होगी, क्या विचित्र व्यक्ति है। ज्वर सभीको आता है। बच्चोंकी भाँति दौड़कर आया और रूठ कर कहने लगा, मुझे बुखार आ गया है और तुम यहाँ गाना सुन रही हो। मानसिक संकोच, लज्जा, घृणा ओर खीझके मारे मैं तिलमिला उठा। यह डर भी था कि मनके अन्दर उठती हुई भावनाओंको कहीं ये लोग चेहरेपर पढ़ न लें। सोचेंगे कि तमाशा रचनेको ही यह बहाना किया था। सोचते-सोचते निश्चय हो गया कि मनके भाव चेहरे पर अवश्य दिखाई दे रहे हैं। कम-से-कम रजनी मेरी अभिनीत बेहोशीको अवश्य ताड़ गई है। इच्छा हुई कि आखें खोल दूँ। समझ लो कि होशमें आ गया हूँ। इसी समय किसीका हाथ धीरेसे मेरी गर्दनके नीचे चला गया। मुझे थोड़ा-सा उठाकर मैनेजरने कहा—"इधर लाओ दवा। ....अबे, शीशी नहीं। काँचके गिलासमें आधी दवा

डाल। नालायक कहींका,—शीशीसे कहीं दवा पिलाई जाती है?"

मैनेजरके 'हाथके स्पर्शसे, और अब ये मुझे जबरदस्ती दवा पिलायेंगे, यह सोचकर तिलमिलाहट होने लगी। मुझे लगा कि दवा नहीं पिऊँगा। कदापि नहीं पिऊँगा। होश रहते इनका आभार नहीं बहन कर सकूँगा।—होंठोंपर गिलास लगते ही मैंने मिचमिचाकर आँखें खोल दीं। ठीक सामने मेरे पैताने रजनी खड़ी थी। मुझे टकटकी लगाकर देख रही थी। एकाएक पुकार उठी—"आ गए होशमें!"—कहते कहते झपटी उस ओर जहाँ मैनेजर साहब मुझे दवा पिलानेमें लगे हुए थे। दूसरी ओरसे सिरहानेपर झुककर वह बोली—"मनोहर दादा।"

उसका मुँह मेरे इतना निकट था कि अपने बालोंपर मैं उसका श्वास-प्रश्वास अनुभव कर रहा था। आँखें उठाकर मैंने उसका चेहरा देखा। जो कुछ दिखाई दिया, वह अप्रत्याशित था। पलकें किंचित् भीगी हुई थीं, और पुतलियाँ अत्यन्त चंचल। मानो क्षणभरमें ये आँखें मुझे अपनेमें समेट लेंगी। ऐसा सर्वग्रासी भाव उन नीले नेत्रोंमें उमड़ रहा था। वह कुछ ऐसा था, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपनी दृष्टि हटाना चाहता था। किन्तु मेरी आँखें जैसे गहराईमें डूब रही हों। मेरे शरीरमें सिहरनकी एक बिजली कौंध गई।

मैनेजरने अबकी मेरा सिर हिलाकर कहा—"मनोहर बाबू, यह दवा पी लो, भाई!" और दवाका गिलास दुबारा मेरे होठोंसे लगा दिया। मेरी आँखें अब हठात् उनके चेहरेपर जा लगीं। चारों

ओर यह ऐसा व्यापार हो रहा था कि जिसे समझना मेरी सामर्थ्यके बाहर था। ये दोनों व्यक्ति मेरे प्रति जिस आत्मीय चिन्ताका प्रदर्शन कर रहे थे, उसका मैं जीवन-भर अनुभव नहीं कर सका था आकस्मिक घोर व्याधिसे ग्रस्त, निर्जीव बना हुआ, मैं किसी अन्य व्यक्तिकी कृपाके बिना जीवित नहीं रह सकता था। किन्तु मुझ जैसे अपदार्थके प्रति संसारका कोई मनुष्य दयासे द्रवित हो सकता है, आँखोंसे देख लेनेपर भी मुझे इस सत्यकी प्रतीति नहीं हो सकी। यदि ये लोग इस समय मेरे प्रति क्रूर उपेक्षाका व्यवहार करते तो मुझे आश्चर्य न होता। किन्तु इस व्यवहारने मेरे मनको एकाएक चौंका दिया।

होठोंसे लगी दवाको पी जाना असम्भव था। यह दवा भले ही रोगको अच्छा कर दे। किन्तु गलेके नीचे उतरते ही मेरे अपनेपनको यह भस्म कर देगी। गहरे लाल रंगकी वह ओषधि मानो मूर्तिमान् विध्वंसक सत्य थी। जन्मसे आज तक एक ही विश्वास और संसारके प्रति एक ही धारणाको मैं कलेजेसे लगाकर पनपने दे रहा था। यह दवा उसे आमूल ध्वंस कर देगी, यह सोचकर मेरे होठ दृढ़ताके साथ एक दूसरेसे सट गए।

"अरे भाई, दवा पी लो न?—मनोहर बाबू।"—मैनेजरने होठोंपर दबाव डालते हुए कहा।

"मनोहर दादा!—" रजनीने मेरा कंधा हिलाकर कहा।

मैं एक क्षण रजनीकी ओर देखता रहा; फिर बोल उठा "—मैं नहीं पिऊँगा!"

रजनी चहक पड़ी—"लो, अब तो ये पूरे होशमें आ गए!"

फिर मुझसे बोली—"वाह, पियोगे क्यों नहीं?—पीना पड़ेगा। लाइए, मुझे दीजिए। मैं पिलाती हूँ।" और पिताके हाथसे दवाका गिलास लेकर उसने एक हाथसे ठोढ़ी पकड़ ली, और दूसरे हाथसे गिलास मेरे होंठोंसे लगा दिया।

"नहीं पिऊँगा! दवा नहीं पिऊँगा!—मुझे आप लोग छोड़ दें"—मैंने चिल्लाकर कहा।

रजनीके स्पर्शमें न जाने क्या था कि सिरसे पैर तक मैं ऐसा काँपने लगा, जैसे आँधीमें चीड़का वृक्ष। सकतेमें आकर मैंने उसके दोनों हाथ अपने हाथोंसे पकड़कर दूर हटा दिए। मेरे अन्दर एक प्रबल रुलाईकी बाढ़ उमड़ने लगी थी। मैंने चीखकर कहा—"आप लोग क्यों मेरे पीछे पड़े हुए हैं? मैं नहीं पिऊँगा यह दवा!—मुझे मरने दीजिए!"

रजनीके हाथोंसे मैंने बलपूर्वक दवा ले ली और गिलास-सहित सामने दीवारपर फेंक दी। उसी समय मेरा सिर घूमने लगा। सारा कमरा, मय दीवारोंके, चारपाईके चारों ओर तेजीसे परिक्रमा करने लगा। दीवारपर जहाँ गिलास टूटा था, एक हल्का-सा लाल धब्बा बन गया। मेरी दृष्टि उसीपर लगी थी। दीवारके साथ-साथ धब्बा भी चक्कर काटता हुआ दीखने लगा। मानो वह लाल रंग गाढ़ा होता चला जा रहा है। उसका रंग एकदम रक्त-सा दिखाई दिया। कुछ छोटी-बड़ी बूँदें नीचेकी ओर लुढ़कने लगीं। बूँदोंकी संख्या बढ़ी। खूनकी वर्षा प्रारम्भ हो गई। चारों ओरका संसार और भी तेजीसे घूमता हुआ मालूम हुआ। दीवारपरका लाल धब्बा अबतक विश्वभरमें फैल चुका था। कानोंमें ऐसी ध्वनि सुनाई देने

लगी मानो कोई विशाल बरसाती नदी ब्रह्माण्डको फोड़ती, बहाती हुई चली जा रही है। अचानक मेरे गालपर गरम-गरम बूँद बरसी। मैं गला फाड़कर चीख उठा। क्षणभरके लिए रजनो और मैनेजरके चेहरे आँखोंपर तैर गए। रजनीकी आँखोंमें पानी भरा था, मैनेजरका चेहरा आशंका और भयसे सिकुड़ रहा था।

दूसरी बूँद बरसी। रक्तकी बूँदें मुझपर भी बरसने लगी थीं। सामने दीवारपर वह लाल-धब्बा रक्तमें डूबे सुदर्शन चक्रकी भाँति घूम रहा था। किसका रक्त है यह? किसमें इतना रक्त था कि संसारमें बाढ़ आ गई? यह खून किसने बहाया? मैंने खून किया है? मैं खूनी हूँ!—खूनी हूँ!

मेरे अन्दर कहीं सुदूर गहराईसे एक महान् अनिर्वचनीय क्रन्दन फूट पड़ा। मानो मेरे प्राण मुझे छोड़कर कहीं दूरसे भयंकर आर्त-नाद कर रहे हैं। सुना कि मैं चीख-चीख कर कह रहा हूँ—"मैं खूनी हूँ, मुझे मार डालो!—मैं खूनी हूँ! मुझे मार डालो!"

"मनोहर बाबू!"

"मनोहर दादा!—तुम्हें मेरी सौगंध,—दादा!"

मुझे लगा, मेरा पीछा किया जा रहा है। मैंने रुधिरका शोणनद बहा दिया है। उसीका प्रतीकार करने लोग मुझे पकड़ कर दण्ड दिया चाहते हैं।

"मनोहर दादा!"—

अचानक मुझे लगा कि भागना चाहिए। चारपाईसे उठकर भागनेको उद्यत-सा हुआ। एकाएक किसीने मुझे पकड़कर

दबोच लिया। मारे आतंकके मैं फिर चिल्ला उठा—"खून !—खून !"

दो चक्कर काटते हुए चेहरे मुझे दबाए हुए थे। एक रजनी, दूसरे उसके पिता। रजनीकी आँखें जल बरसा रही थीं। और मैनेजर....रजनी रो रही....किस लिए ? ..मैनेजर—क्यों ?—किस लिए ?—

कहते हैं कि सन्निपात हो गया था। नौ दिन तक मैं बेहोश रहा। जीवन और मृत्युके बीचकी सीमा-रेखा मिट चुकी थी। जीवित रहनेका प्रमाण शरीरके तापमान और अनर्गल बकबादसे मिला करता था। कई बार लोगोंने मुझे मरते हुए पाया। नाड़ियाँ चुप हो गईं। शरीर निष्पन्द और बरफके समान ठण्डा पड़ गया। कई बार चारपाईसे उतारकर मुझे पृथ्वीपर लिटा दिया गया। किन्तु उतनी ही बार मेरे प्राण घूम फिरकर मुझीमें समा जाते थे। जीवन और महामृत्युके बीच यह संघर्ष नौ दिनतक चलता रहा। उसके बाद मौतको पछाड़कर जिन्दगी फिरसे लहलहा उठी। दसवें दिन मैंने अपनी मुमूर्षु आँखें खोल दीं।"

इतना कहकर मनोहर चुप हो गया। उस समय रातके बारह बज चुके थे। डाक-गाड़ी चालीस-पचास मीलकी चालसे भागी जा रही थी। डिब्बेके अन्दर प्रायः सभी यात्री सो रहे थे। मैंने खिड़कीसे सिर निकालकर बाहरकी ओर देखा। आकाशमें टोकरी-भर तारे छितराए हुए थे। नीचे अन्धकारकी लहरें उमड़-उमड़कर रेलगाड़ीपर टूट पड़ती थीं।

"तुम्हारे पास एकाध सिगरेट है ?"

मैंने अपना केस निकालकर उसे दे दिया। बोला—"सिगरेट छोड़े हुए मुझे डेढ़ साल हो गया है। किन्तु आज लगता है कि बिना इसे पिए तुम्हें समूची कहानी नहीं सुना सकूँगा।—जीवनकी इन स्मृतियोंको मैं बहुत गहराई तक दफना देना चाहता था। आज वे उभर आई हैं, तो लगता है अपने बोझसे मुझे पीस डालेंगी।"

उसने सिगरेट सुलगाकर एक लम्बी कश ली और धुएँका बादल-सा छोड़ते हुए वह कहने लगा—

"ईश्वर यदि है तो उसका एक ही कार्य मेरी समझमें आता है। वह गर्वहारी है। जिस किसीने सिर उठाया, कि उसे नीचा देखना पड़ा। दूसरोंकी उपेक्षा करके अनन्त करुणापर जिन्होंने अविश्वास किया, उन्हें धूलमें मिलना पड़ा। कदाचित् मुझे जीवित रखनेमें भी उसका यही अभिप्राय था। मेरे विषके दाँत अभी टूटे नहीं थे। अपनी तुच्छता और अत्यन्त अपदार्थताका अनुभव होना अभी बाकी था।

उस दिन होश आया, तो सूर्योदय हो रहा था। खिड़कीसे होकर प्रकाशकी किरणें कमरेभरमें सोना बिखेर रही थीं। बड़ी दुर्बलता थी। नहीं लगता था कि मेरे शरीर है। दिखाई तो देता था कि चारपाईपर पड़ा हूँ। किन्तु मनमें लगता मानो कहीं नहीं हूँ। धीरे-धीरे दृष्टिका प्रसार बढ़ा। चारपाई और उसपर पड़ी दूध-सी सफेद चादर दिखाई दी। शरीरपर लिहाफ लिपटा हुआ था। उसपर छपेहुए रंगीन डिजाइन अब साफ दिखाई देने लगे। मैं दाहिनी करवट लेटा हुआ था। सामने पुस्तकोंकी आलमारी। उसके पीछे सफेद दीवार। धीरे-

धीरे स्मरण हुआ कि जीवित हूँ; मनुष्य हूँ; यह मेरा घर है; इस घरमें आज ही नहीं, कई दिनसे रहता आया हूँ। करवट ली, चित होकर लेट गया। शरीरमें गति आई तो अपने अस्तित्वका ठोस अनुभव होने लगा। लिहाफके अन्दर हाथ हिले; पैरोंमें झुनझुनी होने लगी। शरीरके स्थूल रूपका ज्ञान हुआ। धीरे-धीरे सिर घुमाकर चारों ओर देखा। कमरेमें कोई न था। सिरहानेके पास तीन कुर्सियाँ और एक छोटी-सी टेबिल रक्खी हुई थी। टेबिलपर काँचका एक गिलास, दो-तीन शीशियाँ, एक फूलदान और फूलोंका एक गुच्छा रक्खा हुआ था। फूल ताजे थे। मैंने फिरसे चारों ओर देखा। कोई नहीं था। टेबिलपर दृष्टि गई, एक शीशीमें लाल रंगकी कोई तरल वस्तु दिखाई दी। माथेपर बल पड़ गए। मस्तिष्कके अन्दर एक विचित्र-सी गति होने लगी। मानो रेलगाड़ी एकाएक रुककर पीछेकी ओर चलने लगी हो। फिरसे शीशीकी ओर देखा। लगा शीशीका किसी और वस्तुसे भी सम्बन्ध है। शीशीका नहीं, उस रंगका। वह लाल रंग मानो अपने आपमें सत्य नहीं है। उसका सूत्र कहीं दूरतक गया है। काँचके गिलासको देखा। वह समूचा था। किन्तु उसे तो टुकड़े-टुकड़े होना चाहिए। समूचे गिलासका होना जैसे कोई अर्थ नहीं रखता। लाल रंगकी वस्तु शीशीमें न होकर गिलासमें होनी चाहिए। और गिलासको टेबिलपर न होकर हवामें निराधार गतिमान होना चाहिए। गिलासको दीवारकी ओर जाना चाहिए। आँखें स्वयं ही खिंचकर पैतानेकी ओर दीवारपर लग गईं। वहाँ लाल-लाल एक धब्बा बन गया था।—पीछेकी ओर तेजीसे

भागती हुई रेलगाड़ी अचानक खड़ी हो गई। लाल धब्बा दीवार-पर निर्जीव चिपटा हुआ था, पर घूम नहीं रहा था। वह क्या था?--रक्त? नहीं। रंग?—नहीं। औषधि?—हाँ, औषधि। दीवारपर लाल औषधि मैंने ही फेंकी थी। किसीके हाथसे छीन कर मैंने काँचका गिलास—रजनीके हाथसे...रजनी। विचारोंकी रेलगाड़ी आगेकी ओर चलने लगी। दरवाजा खुलनेका शब्द हुआ। सिर घुमाकर पीछेकी ओर देखा तो एक मनुष्य वहाँ खड़ा-खड़ा मुझे देख रहा था। नौकर था—मैनेजर साहबका नौकर। स्मरण आया मैनेजर साहब हैं; उनका नौकर है। रजनी भी है। रजनी ठीक वैसे ही है, जैसे मैं हूँ। मेरी ही भाँति मैनेजर और इस नौकरका भी एक ठोस अस्तित्व है, शरीर है, प्राण हैं।

वह मुझे देख रहा था। उसकी आँखोंमें एक चमक-सी आई। आगे बढ़ा। सिरहानेके पास आया। मेरे ऊपर झुककर बोला—"बाबूजी, मनोहर बाबू।" लगा, यह नाम मेरा ही है और उत्तर भी मुझे ही देना होगा। गलेके अन्दर एक सुरसुराहट-सी हुई। एक शब्द-सा उच्चारित हुआ।

"मैं अभी आया। बिटियाको खबर दे आऊँ।"

थोड़ी ही देर बाद बाहर तेजीसे चलते हुए कई पैरोंका शब्द, और किसी बच्चेकी मुखर कंठध्वनि सुनाई दी। चूड़ियाँ खनकीं; और—

"मनोहर दादा!"

"मनोहर दादा!"

उस कमरेमें मानो झंझा चल पड़ी हो। मस्तिष्कमें हजारों,

लाखों, करोड़ों बिजलियाँ चमक उठी हों। वह मेरे सामने खड़ी थी। वह रजनी थी। स्मृति सम्पूर्ण वेगसे बहने लगी। वह रजनी थी, मेनेजरकी लड़की, मेरी पड़ोसिन। वह रजनी थी। मैं उसे जानता हूँ। खूब जानता हूँ। इतने निकटसे मानो मेरे हृदयमें वह निवास करती हो। मैं उससे चाह—नहीं—नहीं—घृणा ?—ऊँ हूँ—

वह कुरसीपर नहीं बैठी। चारपाईकी पटियापर आकर बैठ गई। चारपाई हिली, मैं हिला। वह अत्यन्त समीप थी कि मैं उसे छू सकता था। अभी अभी नहाकर आई थी। बाल भीगे हुए थे। नीली छींटकी धोती पहिन रक्खी थी। पानीकी दो चार बूँदें अभी कपोलोंपर लगी हुई थीं। खिड़कीसे आती हुई किरणें उनपर खेल गईं। बूँदें चमक उठीं, जैसे मोती; जैसे नई कोंपलों-पर ओसके कण। मेरे इतने समीप, कि मैं उसकी पलकोंपर बरूनियाँ गिन सकता था। नीली आँखें, भूरी तारिका, काली कनीनिका और उसमें अपना प्रतिबिम्ब मुझे साफ दिखाई दे रहा था। उसने अपना हाथ मेरे ललाटपर रख दिया। शीतल—अत्यन्त शीतल। मेरा रोम-रोम सिहर उठा। एक ही क्षणमें समूचे शरीरको चेतना मिल गई। अपने होनेका आभास मिल गया।

"मनोहर दादा, अब कैसे हो ?"

स्मरण हुआ कि युगोंसे रजनीके इसी कंठस्वरको सुनता आ रहा हूँ। किन्तु आज उसमें कुछ विचित्रता खनक रही थी। जैसे जैसे समय बीतता गया, वैसे वैसे ही स्मृतिका धुँधलापन दूर होता गया। सोचा, रजनीको उत्तर देना चाहिए कि, अच्छा हूँ। किन्तु

गलेके भीतर मानो कोई वस्तु अटक गई। बोल नहीं फूटता था। लिहाफके भीतरसे हाथ निकालकर मैंने संकेत किया।

"अच्छा, अच्छा, लेटे रहो। डाक्टरका आदेश है कि न तो तुम बोलो, न कोई तुमसे बातें करे। मैं जाती हूँ। नौकर यहीं रहेगा। थोड़ी देरमें आकर दवा दे जाऊँगी। भला?"

वह उठनेको हुई तो मेरा हाथ स्वयं ही उसके हाथसे जा लगा। चाहता था कि वह न जाय। इसी प्रकार बैठी रहे। लगता था कि रजनी चले जायेगी तो फिर बेहोश हो जाऊँगा। मानो वही मूर्तिमान चेतना हो। वह हँसी। बोली—"अब तो लौटा लिया है तुम्हें। यों ही छोड़कर भाग थोड़े ही जाऊँगी। बाबूजी दफ्तर जा रहे हैं; उन्हें नाश्ता देकर अभी आती हूँ। फिर दिनभर हम लोग यहीं रहेंगे।"

वह चली गई।

मैं स्वस्थ होता गया और पिछली स्मृतियाँ भी स्पष्ट होती गईं। नौकरने बताया कि रजनी न होती तो मेरा जीवित रहना असम्भव था। किस प्रकार दिन और रात शुश्रूषा करके उसीने मुझे मौतके मुँहसे बचा लिया। मैनेजर स्वयं लड़कीके साथ रात-रातभर उस कुर्सीपर ऊँघते रहे। मैंने इन्हीं बातोंकी दर्जनों बार आवृत्ति कराई। बीमार होनेसे पूर्वकी, मैनेजरके इस पड़ोसमें आनेकी, प्रदर्शिनी और वहाँ अपने तिरस्कारकी स्मृति काली नागिन-सी ठेस खाकर उठ खड़ी हुई थी। मैं उसका और इन बातोंका सामंजस्य करने लगता। एक बार सुनकर मुझे तृप्ति न होती। बार-बार पूछता—बार-बार सुनता। दोनों ओरसे दो प्रकारके सत्य मुझे झकझोर डालते। चाहता कि उनमेंसे एक ही

रहे, दूसरा नष्ट हो जाय। सोचता कि पहिला सत्य मिथ्या सिद्ध हो सके; मैं उसे भूल जाऊँ। ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती गई; हृदयमें, धमनियों और शिराओंमें उष्ण रक्तका प्रवाह गतिमान होता गया, त्यों त्यों यह द्विधा मानसिक संघर्ष भी भयंकर रूप धारण करने लगा। मनकी इस दशाको एक नया रूप मिल गया। रजनीको देखते ही, जहाँ पहिले क्षोभ होता, वहाँ एक प्रच्छन्न उल्लास मन और मस्तिष्कमें व्याप्त होने लगा। प्रातःकाल नींद खुलते ही उसके आनेकी प्रतीक्षा करता। फूलदानमें ताजे फूल लाकर रखनेका उसका कार्य दैनिक हो गया था। विलम्ब होता तो मैं अधीर हो उठता। टेबिलपर रक्खे हुए बासी फूल आँखोंमें चुभने लगते थे। सात-आठ दिनमें इस योग्य तो हो गया था कि इधर-उधर टहल सकूँ; अपने हाथों समयपर औषधि पी लूँ। परन्तु मैं तो यही प्रतीक्षा करता कि रजनी स्वयं आकर मुझे दवा दे जाय। मैं जो इतना शीघ्र रोगसे मुक्ति पा रहा था, वह अच्छा नहीं लगा। स्वस्थ होते ही रजनीकी चिन्ता मेरे प्रति कम हो हो जावेगी, और दिनमें कई बार दवा पिलाने, फूल रखने अथवा मेरे पास बैठकर वार्तालाप करने वह नहीं आया करेगी। मैं यह भी चाहता कि रजनी अकेली यहाँ आया करे। तड़के ही नौकरको जगा दिया करता, ताकि रजनीके फूल लानेसे पूर्व ही वह अपना बिस्तर समेट कर चला जाय। दिनमें तीन बार औषधि देने वह आती। प्रत्येक बार उसके भाई साथमें होते। जब तक वह बैठी रहती, कमरे भरमें उछल-कूद मचाते रहते। एक बार इच्छा हुई कह दूँ, तुम अकेली आया करो। बच्चोंके कोलाहलसे मुझे मानसिक उद्वेग होता है। सायंकालको मैनेजर आ जाते। देर तक मेरे पास बैठ कर गप्पें हाँका करते।

रजनी उस समय घरपर रहती। मैनेजरकी सूरतसे मुझे चिढ़ हो गई। सोचता उन्हींके कारण रजनी यहाँ नहीं आती।

पड़ोसी जुलाहा कुशल पूछने आया करता। वह भी रजनीके गुणोंका शतमुख गान करने लगता। उसकी कीर्ति अनेकों दिशाओंसे मेरी ही ओर उन्मुख होकर बहने लगी थी। लगता कि ये लोग मेरे जीवित रहनेपर इतने उल्लसित नहीं है, जितना रजनीके द्वारा मेरे बचाये जानेपर। अस्थि-मांसकी इस देहमें मानो जो कुछ था, वह रजनीके ही द्वारा निर्मित हुआ था। वह स्रष्टा थी, और मैं उसकी सृष्टि। वह शाहजहाँ थी, और मैं उसका ताजमहल। लोग मुझे देखने आते, और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए चले जाते।—लगता कि मैं जो कुछ था, वह नहीं रह गया हूँ। उन नौ दिनोंकी बेहोशीके बाद मानो मेरा समूचा अस्तित्व जलकर राख हो गया है। यह पुनर्जन्म था, जो रजनीसे दानमें मिला था। मेरे प्राणोंमें उसीका संचार और हृदयमें उसीका स्पन्दन समा गया था।

इस अनुग्रहके भारसे मैं इतना दब गया था कि पिछले दिनोंका स्मरण करके ग्लानि और लज्जाके कारण सिर नीचे झुक जाता। रजनीसे आँखें मिलानेका साहस न होता। एकाएक वह इतनी महान् हो गई कि उसकी ऊँचाई माप सकनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं था। जब तक न आती, मैं धड़कते हृदयसे उसकी राह देखा करता। किंतु ज्यों ही दरवाजेके बाहर उसके पदशब्द सुनाई देते कि मैं चारपाईपर लेटकर आँखें मूँद लेता। लिहाफसे सिर ढाँक लेता। वह आती; पुकारकर मेरी तबीयतका हाल पूछती। कमरेमें इधर-उधर घूमने लगती। कभी कुरसीपर बैठ जाती, कभी चारपाईकी

पटियापर। मुझपर झुककर आँखें डालकर बातें करती। उसे इतने निकट पाकर मुझे बड़ी स्फूर्तिका अनुभव होता। कमरेमें प्रकाशकी एक अतिरिक्त किरण-सी फूट पड़ती। अपने अन्दर और बाहर एक आनन्द, एक अनिर्वचनीय सौन्दर्यका बोध होने लगता। किन्तु उसीकी भाँति निश्छल, निर्द्वन्द्व होकर मैं बोल न सकता। खिलखिलाकर कमरेकी दीवारोंको मुखरित करते हुए हँस नहीं पाता था। मैं उसीकी प्रत्येक गति-विधि, मुखपर आते हुए प्रत्येक भाव, प्रत्येक रूप-रेखाको टकटकी लगाकर देखा करता। कई बार ऐसा लगता कि मेरी इस अनिमेष दृष्टिके बोझसे वह सिकुड़ जाती। पलकें झुक पड़तीं और कपोलोंपर क्षणभरके लिए गुलाब खिल उठते। क्षणभरके ही लिए यह होता। तत्काल ही वह अपने आपपर नियंत्रण करके उसी भांति हँसने बोलने लगती थी।

"मनोहर दादा, ऐसे चुप क्यों पड़े रहते हो? बोलो तो। अच्छे हो गए, फिर भी गुमसुम बैठे रहना तुम्हें अच्छा लगता है। मुझे यह अच्छा नहीं लगता; मैं नहीं आया करूँगी तुम्हारे घर।"

भविष्यमें नहीं आनेकी उसकी प्रतिज्ञासे मैं आतंकित हो उठता था। हठात् बोलनेका प्रयत्न करता, किन्तु लगता उसके सम्मुख ठीक-ठीक नहीं बोल सकूँगा। कहता—"तुम नहीं आओगी तो फिर बीमार पड़ जाऊँगा। अबकी बचूँगा नहीं।"

वह ठठाकर हँस पड़ती। कहती—"समझ गई मैं सब कुछ। मुझे ही इतना तंग करनेको बीमार पड़े थे, क्यों? बताओ तो, क्या बिगाड़ा मैंने तुम्हारा?"

"तुम्हारा आभारी हूँ, रजनी। इस परदेसमें मेरा कोई तो

नहीं है। तुम बचा न लेतीं तो मेरी मृत्युपर आँसू बहानेवाला भी तो कोई नहीं था।"

तब एकाएक वह रूठ जाती। कहती—"तुम फालतू बातें किया करते हो, दादा।" और उठकर अपने घर चली जाती। मैं अभिभूत-सा, पागल-सा वहीं पड़ा-पड़ा मूर्तिमान आश्चर्यकी उस पुतलीके विषयमें सोचा करता। सुदूर अतीतमें जिस जीवनको छोड़ आया था, कभी कभी उसका स्मरण होता। चारों ओर नष्ट संसारकी जो सीमा रेखाएँ खिंच चुकी थीं, उनके बहुत भीतर, बहुत गहराईमें मेरी वास्तविक झलक मुझे दिखाई देती। अभी दो सप्ताह पूर्व मैं इस लड़कीसे भयंकर घृणा किया करता था। मुझे प्रदर्शिनीका स्मरण होता, और मनके भीतर दो ओरसे दो भीषण तूफान उठते जान पड़ते। दो ओरसे दो प्रकारकी आवाजें होतीं। लगता कि मेरे व्यक्तित्वके एकाएक दो टुकड़े हो गए हैं। एक कहता, भूल जाओ उन पुरानी बातोंको। अब तो नया आरम्भ हो चुका है। नए लोकमें पदार्पण क्यों नहीं करते? उसी समय एक विशालकाय दानवकी भाँति दूसरा चीख उठता—वाह, भूल कैसे जाऊँ? क्या इस लड़कीने मेरा तिरस्कार नहीं किया? आज थोड़ी-सी सेवा-शुश्रूषा तुम्हारी हो गई तो लगे कुत्तेकी भाँति पूँछ हिलाने! मैं स्वयं तर्क करता, और स्वयं ही खण्डन। ऐसी टकराहट, ऐसी मारकाट मनके अन्दर होने लगती कि चारपाई छोड़कर कमरेभरमें इधर-उधर चक्कर काटने लगता। एक निर्णयपर पहुँचना चाहता था। इस प्राणहारी संघर्षसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय था किसी एक सत्यकी स्थापना मैं शीघ्रातिशीघ्र कर लूँ। रजनीने मेरा तिरस्कार क्यों किया?

रजनीने मुझे मौतके मुँहसे क्यों लौटाया ? उसने मेरा अपमान क्यों किया ? क्यों उसीने मुझे जीवन-दान किया ? वह मेरी शत्रु क्यों बनी ? मेरी बन्धुरत्न क्यों बन गई ? उसने मुझसे घृणा की ?—प्यार किया ?—मुझे प्यार किया ! नहीं ?—क्यों ?—नहीं—। तर्कका वेग जितना उग्र होता जाता, मैं उतनी ही तेजीसे कमरेमें चहलक़दमी करने लगता । दोनों मुट्ठियाँ बँध जातीं । नथुने फूल उठते । साँस धोंकनीकी भाँति चलने लगती । दीवारपर टँगे शीशेमें अपनी ही आकृति मैं नहीं पहिचान पाता था । रक्तका लेश नहीं । आँखें धँसकर पाताल पहुँच गईं । किन्तु उनकी तीक्ष्णता ?—लगता कालसर्पकी आँखें हैं । आग उगल रही हैं; जला रही हैं ।

कभी सोचता, प्रदर्शिनीमें जो मिली थी, वह रजनी नहीं थी । उसी सूरतकी दूसरी कोई लड़की होगी । इस विचारसे बड़ी राहत मिलती थी । उसीसे क्यों न पूछ लूँ ? कितना मूर्ख हूँ, जो इस शंकाको अबतक कलेजेमें छिपाकर रक्खे रहा । एक बार पूछनेकी देर है कि वह बता देगी । इतना बड़ा संसार है । एक ही आकृतिके दो व्यक्ति होना कोई असम्भव नहीं । रजनी कह भर दे, कि हृदयमें निरन्तर चुभनेवाला कण्टक सदाके लिए निकल जायेगा । धीरे-धीरे निश्चय-सा हो गया कि वह नहीं थी । आज ही पूछ लेना चाहिए । प्रातःकाल रजनी फूल लेकर नहीं आई । मैं प्रतीक्षा कर रहा था । प्रति दिनकी भांति बिस्तरपर ही नहीं पड़ा रहा । जाकर हाथ मुँह धोया; बालोंपर कंघी की और साफ-सुथरे कपड़े पहिनकर कुर्सीपर बैठ गया । आनेका समय हो गया था, किन्तु वह नहीं आई । आज सब कुछ पूछ ही लूँगा । मेरा दृढ़ निश्चय

था। बैठा रहा; वह नहीं आई। फूलोंपर दृष्टि गई। बासी थे—कुम्हला गए थे। मैं उठा। फूलदानमेंसे निकाल उन्हें खिड़कीकी राह बाहर फेंक दिया। लौटकर बैठा तो लगा, नहीं फेंकने थे। रजनीके लाए हुए फूलोंको फेंकनेका अधिकार उसके अतिरिक्त दूसरेको नहीं है। आयेगी तो सड़कपर पड़े उन्हें देख लेगी। अपना अपमान समझेगी। मैं उसे किसी भी दशामें नाराज नहीं करना चाहता। उठा, और उन्हें लेनेके लिए घरसे बाहर निकला। करीब बीस दिनके बाद बाहर पाँव रक्खे थे। डगमगा गए। खिड़कीके ठीक नीचे सड़कपर फूलोंका गुच्छा पड़ा हुआ था। उठानेके लिए झुका तो देखा, रजनी इसी ओर आ रही है। साथमें दोनों भाई थे। मुझे देखते ही छोटा चिल्लाया—"मनोहर दादा!" मेरे काटो तो खून नहीं। जैसे चोरी करते हुए पकड़ा गया होऊँ। फूल वैसे ही छोड़ दिए। लम्बे लम्बे डग भरता हुआ कमरेमें आकर कुर्सीपर बैठ गया। हाँफ गया था, जैसे मीलों चलना पड़ा हो। रजनी आते ही मुझपर बरस पड़ी—"तुम किसके हुकमसे बाहर गए थे, दादा? डाक्टरने अभी हफ्ते-भर चलने फिरने-फिरनेको मना कर रक्खा है। मालूम नहीं है तुम्हें?"

मैं सिटपिटा गया। बगलें झाँकने लगा। वह ठीक मेरे सिरपर आकर खड़ी हो गई। एक भाई मेरे घुटने पकड़ कर लटक गया। दूसरा हाथ झकझोर-झकझोर कर चिल्लाने लगा—"क्यों गए थे, मनोहर दादा?—क्यों गए थे—बताओ?"

"फिरसे बीमार पड़ गए तो क्या होगा, बोलो तो?"—रजनीने कहा।

मैं हड़बड़ा गया। उसकी ओर आँखें उठाकर देखा तो वह मुस्करा रही थी। सोचा उससे पूछ ही लूँ—'तुम प्रदर्शिनीमें क्यों गई थीं?' किन्तु उसी क्षण लगा कि यह प्रश्न सरासर असंगत है। इस प्रकार नहीं पूछना चाहिए। अपराधीकी भाँति उत्तर दिया—"फूल लेने बाहर गया था।"

"कौन-से फूल?"

"जो फूलदानमें थे।"

"क्यों?"

"सोचा था कि तुम ताजे फूल ला रही होगी। सो बासी निकाल कर फेंक दिए।"

"यह तो ठीक ही किया। फिर उन्हें लेने बाहर क्यों गए थे?"

वह घूर-घूर कर मुझे देख रही थी। होंठ मुस्करा रहे थे, किन्तु आँखें गम्भीर थीं। उसकी आँखोंसे मैं सदा डरा करता हूँ। ऐसी आँखें और कहीं मैंने देखी नहीं। मानो नीले प्रकाशका समुद्र वहाँ लहरा रहा हो। मैं और भी सिटपिटा गया। बोला—"मैंने समझा, तुम बुरा मान जाओगी—तुम्हारे फूल थे—"

"वाह, यह भी खूब रही! मैं भला बासी फूल फेंक देनेपर क्यों बुरा मान जाती?"

मैंने सोचा, ठीक तो है। वह क्यों बुरा मान जाती? आखिर बासी फूल तो फेंके ही जाते हैं! इनमें ऐसी कौन-सी बात थी कि मैं उठाने बाहर गया? रजनी स्वयं ही रोज उन्हें फेंककर दूसरे रख दिया

करती है। साधारण-सी घटना थी। परन्तु मैं उत्तर नहीं दे सका। फूलोंके लिए बाहर जाना कुछ ऐसी बात थी, जिसे मैं स्पष्ट नहीं कर सकता था। उसकी पैनी दृष्टिके नीचे सिकुड़ते हुए मैं तेजीसे सोच रहा था कि कुछ उत्तर दूँ। समूचे संसारमें केवल मेरे ही लिए उन बासी फूलोंका इतना महत्त्व क्यों हो गया? क्या कह दूँ?—कैसे समझा दूँ? उसकी अंतर्भेदिनी दृष्टिका बोझ बढ़ता ही जा रहा था। किसी प्रकार प्रयत्न करके मैंने कहा—"मैं नहीं समझा सकता तुम्हें। जो कुछ किया, कुछ-न-कुछ सोचकर ही किया था। तुम परेशान मत करो मझे। लेट जाता हूँ, अब नहीं उठूँगा। बस? तुम जाओ।"

मैं चारपाईपर जाकर लेट गया। उसकी मुस्कराहट खो गई थी। खड़ी खड़ी बड़ी देर तक गम्भीर होकर मुझे देखती रही। फिर बोली—"आजसे डाक्टरने दवा बन्द कर दी है। कहा है, दो चार दिन अभी तुम्हें घूमना-फिरना नहीं होगा। उसके बाद दफ्तर जा सकोगे। नौकरसे खिचड़ी बनवा लेना। शामको फिर आकर तुम्हें देख जाऊँगी।"

बच्चोंकी अँगुलियाँ पकड़कर वह चली गई। दरवाजेके पास पहुँचकर उसने एक बार मुड़कर मेरी ओर देखा। उसकी आँखें बता रही थीं कि वह कुछ समझ गई। एक ईषत् मुसकान उसके होठोंपर थी। मैं तब उसका अर्थ नहीं समझ पाया था। जाते जाते बोली—"अब बाहर न निकलना, खबरदार!"

अकस्मात् स्मरण हुआ कि रजनीसे कुछ पूछना था। झपटकर दरवाजेके पास गया। वह सड़कपर पहुँच चुकी थी। सोचा,

पुकारूँ। किन्तु वह स्वयं इस ओर मुड़ी और उसने द्वारपर खड़े हुए मुझे देख लिया। अब वहींसे चिल्लायेगी कि मैं यहाँ क्यों खड़ा हूँ। किन्तु उसने चुपचाप सिर नीचा कर लिया। जल्दी-जल्दी बच्चोंको घसीटती हुई-सी उस ओर चली गई। लगा कि आज रजनीके व्यवहारमें अपूर्व परिवर्तन हो गया है। समझमें नहीं आता कि वह क्या है। कदाचित् फूलोंके विषयको लेकर मैंने कुछ अवांछनीय चेष्टा की है, जिसे वह अच्छा नहीं मानती या जिसे देखकर वह कुछ समझ गई है। वह कुछ ऐसी बात जान गई है, जो मेरे मनका गूढ़तम रहस्य है। जिसे मैं स्वयं नहीं जानता, अथवा जिसे जानते हुए भी मैं समझ नहीं पाता, समझा नहीं सकता। मुझे लगा वह रूठ गई है। इसीलिए मुझे दरवाजेपर देखकर भी उसने अबकी कुछ नहीं कहा। दुबारा स्मरण नहीं दिलाया कि डाक्टरने हिलने डुलनेसे मना कर रखा है। जाते समय उसके चेहरेपर जो भाव था, वह साधारण रोषका ही नहीं था। —मैंने क्या किया था? उसके फूलोंको ले मैंने यह प्रकट किया कि उसकी ओर मेरे मनमें विशेष लगाव है। मैंने यह स्पष्ट कर दिया कि उसके और मेरे बीच सामान्य सम्बन्ध ही नहीं है।—उसे यह अच्छा नहीं लगा। अब वह नहीं आयेगी। मैं जो कुछ पूछना चाहता था, वह भी न पूछ सका। यह एक नई उलझन और खड़ी हो गई है।

फिरसे चारपाईपर जाकर पड़ रहा। आँखें मूँद लीं। उसी समय कानोंमें कपड़ोंकी सरसराहटका शब्द सुनाई दिया। जैसे कोई दबे पाँव कमरेमें चल रहा हो। मैं विचारोंमें इतना डूबा हुआ था कि आँखें नहीं खोलीं। सोचा, नौकर भोजन बनाने

आया है। मुझे नींदमें समझकर दबे पाँव चल रहा है। टेबिलपर खट्-से आवाज़ सुनाई दी। सोचा, गिलास वगैरह साफ करने ले जा रहा होगा। किसीके खाँसनेका शब्द सुना। चौंककर उस ओर देखा तो रजनी थी। फूलदानमें नए फूलोंका गुच्छा रख रही थी।--एक बार भी उसने मेरी ओर नहीं देखा। पलकें ऐसी झुकी हुई थीं मानो सो रही हों। वह धीरे धीरे फूलोंको लगा रही थी। इतने धीरे कि एक फूल रखती और थोड़ी देर निश्चल खड़ी देखती रहती। फिर दूसरा फूल हाथके गुच्छेमेंसे निकालकर फूलदानमें लगाती। फिर बड़ी देर तक उसे ही देखती रहती। एक बार भी उसने इधर-उधर घूमकर नहीं देखा। उसे इतना गम्भीर मैंने कभी नहीं देखा। क्या हो गया है उसे? क्या सोच रही है वह? मैं कई बार हिला-डुला। करवट ली। वह जिधर खड़ी थी, उसी ओर अपना सिर कर लिया। किन्तु वह वैसी ही अविचल थी। अपलक दृष्टि फूलदानपर ही लगी रही। हाथके सब फूलोंको रखते-रखते उसे एक युग बीत गया। मैंने आवाज की, जैसे गला साफ करता होऊँ। उसे बतानेके लिए कि सोया नहीं हूँ, जाग गया हूँ। उसने आँखें नहीं उठाईं। मेरी ओर देखा नहीं। पलकें कपोलोंपर बिछी हुई थीं। सारी देह निश्चल थी। केवल दोनों हाथोंकी अँगुलियाँ हिलती थीं। मैं विचलित हो उठा। वह मेरी ओर क्यों नहीं देखती? मानो उसकी पलकोंपर एक अदृश्य पहाड़ आकर बैठ गया हो। मानो उस पहाड़का बोझ मैं अपने मनपर अनुभव करता होऊँ।—वह आँखें नहीं उठायेगी तो मैं तड़प उठूँगा। मेरा अंग-प्रत्यंग ऐंठने लगेगा। हृदयका स्पन्दन रुक जायेगा। मैं

वहीं पड़े-पड़े बोला—"इन फूलोंके लिए तुम्हें रोज-रोज बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। इनसे कोई लाभ तो है नहीं। व्यर्थमें...."

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। उसी प्रकार एक-के-बाद-एक फूल लगाती रही। वह मुस्कराई भी नहीं—जो उसका स्वभाव था। वह रुष्ट भी नहीं हुई—क्यों कि उसकी भौंहोंपर एक भी बल नहीं पड़ा। पलकोंपर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पन भी नहीं हुआ। ज्योंकी त्यों खड़ी रही। अँगुलियोंके अतिरिक्त मानो समूचा शरीर जमकर पाषाण बन गया हो। शरीरपर वस्त्रतक नहीं हिल रहा था। मानो कमरेके अन्दर वायुका प्रवाह भी रुद्ध हो गया हो। सम्पूर्ण चर वस्तुएँ निष्प्राण हो गई हों! संसारभरमें चेतना और गति मरकर पत्थर बन गई हों!

मैं उठकर बैठ गया। एक चरमराहट हुई। वह निश्चल थी। हाथमें केवल दो फूल और बचे थे। उसने एक उठाया और फूलदानमें खोंस दिया। दूसरे हाथसे दूसरा भी वहीं लगा दिया। अब फूल नहीं बचे थे। सोचा, अब वहाँसे हटकर कुर्सीपर बैठेगी या अपने स्वभावके अनुसार कमरे-भरमें टहलना, आलमारीमेंसे पुस्तकें निकालना-रखना प्रारम्भ करेगी। किन्तु वह हिली नहीं। दोनों हाथ टेबिलपर रखकर फूलदानके ऊपर झुककर खड़ी हो रही।

मैं उठकर चहलकदमी करने लगा। उसने सिर भी नहीं उठाया! मैं टेबिलके पास जाकर खड़ा हो गया। उसने फिर भी मेरी ओर नहीं देखा। मैं वहीं कुर्सीपर बैठ गया। सोचा, नीचे बैठा हूँ, अब शायद मुझे देख लेगी। किन्तु उसकी पलकें उठी नहीं। अब वह फूलोंको भी नहीं देख रही थी। उसने आँखें बन्द

कर ली थीं। बरूनियोंमें छन-छन कर उनकी चमक भी नहीं दिखाई दे रही थी। मैं हतप्राय हो गया। कुछ भी समझमें नहीं आ रहा था। यह चुप्पी असह्य थी। रजनीकी निश्चलता मुझे नोंच-नोंचकर खा रही थी। मैंने दोनों हाथ टेबिलपर पटक दिए उसका हाथ अपनी अँगुलियोंसे छूकर मैंने कहा—"रजनी!"

उसने हाथ नहीं हटाया। पलकें उठाकर मेरी आँखोंसे आँखें मिला दीं। वह मुस्कराई नहीं। वह बोली नहीं। टकटकी लगाकर मेरी ओर देखती रही। मैं सिहर उठा। मानो उसकी आँखोंकी हिमशीतल नीलिमा मुझपर उँड़ेल दी गई हो। मैं चीख उठा—"क्या हो गया है तुम्हें?—"

उसकी आँखें मुझपर खेलने लगी थीं। होंठ खुले; वह बोली—

"तुम नाराज़ हो गए थे, इसलिए फूल लेकर आई हूँ तुम्हारे लिए!"

मुझे लगा कि केवल यही बात नहीं है। मैं नाराज कभी नहीं हुआ। वह जानती थी कि मैं अब उससे नाराज़ हो ही नहीं सकता था। मुझमें इतना सामर्थ्य था ही नहीं।—वह मुझे टकटकी लगा कर देख रही थी। मानो उसकी आँखें कह रही हों—लो समझो मुझे! मैं नहीं समझा। न तो उस दिन, और न कई दिन बाद तक, रजनीके हृदयकी बातें नहीं जान सका। जब मुझे उस रहस्यका ज्ञान हुआ तबतक तो सब कुछ नष्ट हो चुका था। तबतक मैं सन्देहमें ही डूबा रहा। अपने ही हृदयकी गुत्थियोंसे उलझता रहा। ऐसा मूर्ख हूँ मैं!—वज्रमूर्ख!—कि जीवनभर एक सामान्य, चिरन्तन सत्यपर विश्वास ही नहीं कर सका।—काश कि मैं समझ सकता! मौतसे लोहा लेनेकी

शक्ति तो मुझमें नहीं है। किन्तु आज यह कसक तो नहीं रह जाती! संसारके मरुस्थलमें एक-बार एक हरा-भरा नखलिस्तान मिला था। वहाँ मैं चाहता, तो सुखसे जीवन बिता सकता। किन्तु मैंने तो उसे मिटा दिया। आसपासकी रेत समेटकर मैंने उसे फिरसे रेगिस्तानमें परिणत कर दिया!

उसके सामने कुर्सीपर बैठा हुआ, मैं तो सोच रहा था कि इस समय वह गंभीर हो रही है; अभी पूछ लेना चाहिए कि प्रदर्शिनीमें क्या वही मुझे मिली थी! वह तो प्रतीक्षा कर रही थी कि मैं उसे समझ सकूँ। मैं अवसर देख रहा था कि अपनी बात उससे पूछ लूँ। वह कुछ देर और वैसे ही खड़ी रही। फिर एकाएक बोली—"अच्छा तो जाती हूँ।" वह जल्दी-जल्दी चली गई। उसने एक बार भी लौट कर नहीं देखा। मुझे लगा, जैसे कोई कहानी अधूरी रह गई हो। मुझे स्वयं ही उसके अवशिष्ट अंशको पूरा करना होगा। जैसे जाती बार रजनी कमरेके वातावरणसे, दीवारोंसे कुछ कह गई हो। अब यह काम मेरा था कि उन मूक दीवारोंसे पूछूँ, वह क्या चाहती है।

एक हफ्ते बाद इस योग्य हो गया कि दफ्तर जा सकूँ। छुट्टियाँ और बढ़ाना उचित नहीं था। इस बीचमें मैं स्वयं ही मैनेजर साहबके यहाँ दो-तीन बार हो आया। वही पुरानी बातें, वही टेबिल, वही चाय, वैसी ही गप्पें और वाद-विवाद फिर प्रारम्भ हो गया। मैं वहाँ जाने लगा तो रजनीका मेरे यहाँ आना कम होता गया। हाँ, केवल प्रातःकाल एक बार वह फूल लेकर अवश्य आती थी। मेरी बीमारीके बाद उसने यह दैनिकी बना ली थी।

एक दिन उसका यह नियम भी टूटा। फिर रजनी मेरे घर कभी नहीं आई। फूलदानमें कभी ताजे फूल नहीं रक्खे गए।"

किसी एक स्टेशनपर गाड़ी फिर आकर खड़ी हो गई। मनोहरने अपनी बात कहना छोड़ सिगरेटवालेको पुकारना आरम्भ किया। बहुत-से यात्री डिब्बेमेंसे उतर गए, और उनके स्थानपर नए लोग अन्दर आ पहुँचे। गाड़ी फिर चलने लगी। मनोहरने मेरे केसकी सिगरेटें पूरी करके लौटा दीं। स्वयं एक जला कर धुआँ छोड़ते हुए कहने लगा—

जिस दिन मैं पहिले-पहल दफ्तर गया, उसी दिन अन्तिम बार फूल लेकर वह मेरे कमरेमें आई.....

नहीं—नहीं !....तुम मुझपर सन्देह मत करो ! मैंने कुछ भी नहीं किया। वैसा कुछ भी मैंने नहीं किया।—मैं तो दफ्तर जानेको उद्यत था। हलके नीले रंगकी सूट मैंने पहिन रक्खी थी। पूरे पच्चीस दिनके उपरान्त आजमें कामपर जा रहा था। इसलिए आधे घंटे शीशेके सामने बैठकर दाढ़ी-मोछोंपर लीपा-पोतीकी थी। हैट उठाकर बाहर निकलनेको ही था कि वह आई। उसके हाथोंमें फूल थे। सबके सब गुलाब। कोई लाल, कोई पीला और कोई सफेद। आजसे पहिलेके फूलोंमें गुलाब कभी नहीं आए थे। वह मेरे समीपसे होकर सीधी टेबिलके पास गई, और बिना कुछ कहे फूलदानमें गुलाबोंको लगाने लगी। मेरी ओर बिना देखे ही वह बोली—"दफ्तर जा रहे हो ?"

इधर कई दिनोंसे उसने मेरा नाम लेना छोड़ दिया था। आज मुझे स्मरण होता है कि जिस दिन मैं सड़कपर फूलोंको उठाने

गया, उसी दिनसे उसने एक बार भी मुझे 'मनोहर दादा' कहकर नहीं पुकारा। इतना सूक्ष्म परिवर्तन था कि मेरी स्थूल बुद्धिमें उसका कोई अर्थ नहीं था। मैं यह कैसे जान सकता कि उस एक ही दिनके बाद रजनीके लिए मेरे नामका उच्चारण करना असम्भव क्यों हो गया? उसके प्रश्नका उत्तर एक साधारण 'हाँ' कहकर मैंने दे दिया। दफ्तर जानेकी जल्दीमें था। इस कारणसे भी उसके कण्ठस्वरपर मेरा विशेष ध्यान नहीं गया। वह मेरे सम्मुख आकर खड़ी हो गई। बोली—"दफ्तर जा रहे हो?"

मैं एक बार इसी प्रश्नका उत्तर दे चुका था, इसलिए चुप रहा। वह कहने लगी—"परसों पूर्णिमा है। सत्यनारायणका पूजन कराऊँगी।"

उसकी आँखोंमें एक विचित्र दीप्ति-सी, उत्कंठा-सी झलक रही थी। मुझे सिरसे पैर तक यों देख रही थी, जैसे कोई चित्रकार अपने सम्पूर्ण चित्रको आत्मश्लाघाके भावसे देखता है। एकाएक ध्यान आया कि आज जो दफ्तर जानेके योग्य हुआ हूँ, यह सब उसीकी कृपा है। मैंने कहा—"सत्यनारायणका पूजन तो मुझे कराना चाहिए। किन्तु मैं तो इन ढकोसलोंपर विश्वास नहीं करता। हाँ, तुम्हारी पूजा मन-ही-मन अवश्य किया करता हूँ। मुझे जिलाया तो तुम्हींने है।"

आज मुझे आश्चर्य होता है कि कैसे इन शब्दोंको कह सका! यह मेरी प्रकृतिके विरुद्ध था कि किसीकी कृतज्ञताका प्रकाशन करूँ। रजनीका चेहरा एकाएक लाल हो उठा—"मुझे तुम्हारे

विश्वाससे क्या लेना है ? मैं पूजा-पाठमें आस्था जो रखती हूँ। तुम्हारे अच्छे होनेकी किसीको आशा थोड़े ही थी। डाक्टरने न जाने कौन-सा रोग बताया था—सेरेब्रल हाइपरपाइरे—न जाने क्या—? "

" दिमागी बुखार बताया होगा—सेरेब्रो स्पाइनल फीवर "—मैंने कहा।

" हाँ, ऐसा ही कुछ। कहता था, इस रोगसे हजारोंमें एकाध कोई बचता है। उसके कहनेसे मुझे तो जिद-सी सवार हो गई। सोचा, नौ सौ निन्नानवे व्यक्तियोंमें तुम्हारी गिनती नहीं होने दूँगी। बाबूजी सदा यही कहते रहे कि तुम हजारोंमें एक हो। मैंने भी सोच लिया था कि चाहे कुछ भी हो, तुम्हें मरने नहीं—"

एकाएक उसने दाँतोंसे जीभ काट ली। बोली,—" छिः ! छिः !—मैं भी कैसा अमंगल बोला करती हूँ ! "—मेरी ओर ऐसे देखने लगी मानो उसने गम्भीर अपराध किया हो। मैंने कहा—" मेरे मरने-जीनेकी तुम्हें क्यों इतनी चिन्ता हो गई थी ? यदि मैं मर ही जाता तो संसारका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। " मुझे लग रहा था कि रजनी जान बूझ कर मेरे मुँहसे कृतज्ञताके शब्द सुनना चाहती है। उसने मेरी जो शुश्रूषाकी थी, उसे मानो सन्देह था कि, उसकी गुरुताका मैंने कभी अनुमान लगाया ही नहीं था। इसीलिए किए हुए उपकारका अपने ही मुँहसे वर्णन कर रही है। सोचा, उससे पूछूँ। पहिले तुमने मेरा जो तिरस्कार किया था क्या यह उसीका प्रायश्चित्त है ? एकाएक यह अकाल-स्मरण हो जानेसे मैं मन-ही-मन अत्यन्त

विचलित हो उठा। मैंने कहा—"रजनी, मैं मर ही जाता तो अच्छा होता। संसारमें कुछेक ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनके कलेजोंपर ठंडक पहुँचती!"

"कौन हैं वे?—सुनूँ तो!"

"जैसे, तुम—!"

मैं जानता कि इन दो शब्दोंका रजनीपर कैसा प्रभाव पड़ेगा, तो भूलकर भी उनका उच्चारण न करता। किन्तु वे तो तीर नहीं थे, जो इच्छा करते ही लौट आते। लगा कि मेरे अन्दर ही एक युगसे जो कसक बूँद-बूँद एकत्रित हो रही थी, आज बाँध तोड़कर वह चली। मेरे मनके भीतर मानो राक्षसका प्रादुर्भाव हो गया। आविष्ट-सा, अभिभूत-सा, मैं कहता ही गया—"हाँ, हाँ—तुम!—तुम! मेरे मर जानेपर सबसे अधिक तुम्हें ही हर्ष होता। मैं तुम्हें खूब पहिचानता हूँ; खूब जानता हूँ। तुम्हें शायद मालूम भी नहीं होगा कि पिछले कई महिनोंसे, दिनके चौबीसों घंटे केवल तुम्हारे ही कारण मुझे कैसी मार्मिक यंत्रणायें भोगनी पड़ी हैं। आज कहती हो, मुझे तुमने जिलाया? क्यों जिलाया, जरा सुनूँ तो? क्यों तुमने मेरी शुश्रूषा की, बताओ? क्या इस लिए, कि मेरे मर जानेसे तुम्हारे खेलनेका, निरन्तर उत्पीड़ित करनेका, एक खिलौना नष्ट हो जाता? मरने देतीं न मुझे? जरा देखतीं तो, कैसे ऐंठ-ऐंठ कर, तड़प-तड़प कर मैं दम तोड़ता—"

रजनीने आगे बढ़ कर मेरे होंठोंपर अपना हाथ रख दिया। उसकी नीली आँखें एकाएक फैल कर मेरे चेहरेपर लिपट-सी

गई। उन नेत्रोंमें मर्मान्तिक वेदनाकी लहरें दौड़ने लगीं। शरद् ऋतुके आकाशमें जिस प्रकार सफेद बदलियाँ उमड़ पड़ती हैं, वैसे ही उन आँखोंमें आँसू छलछला आए। मुझे लगा जैसे आग सी-सी करती हुई बुझ गई। मानो मुझपर घड़ों बरफीला पानी बरसा दिया गया हो। स्मरण हुआ कि इन आँखोंमें इसी प्रकार पहिले भी कभी आँसू उमड़ते हुए देखे थे। हठात् दृष्टि सामनेकी दीवारपर गई। फूटे हुए गिलासका लाल धब्बा अभी भी वहाँपर बना हुआ था। स्मरण हुआ कि उस दिन मेरी मूर्च्छितप्राय देह-पर झुकी हुई रजनीकी आँखें इसी प्रकार बरसने लगी थीं। उन्हें देखकर मैं चीख उठा था—"खून! खून!" मुझे लगा जैसे आज भी मैं वैसा ही कोई जघन्य अपराध कर बैठा होऊँ। मानो रजनीकी सुकुमार आत्मा मैंने कत्ल कर डाली हो। मुझे यह सब कुछ नहीं कहना था। अपने आप ही मेरा सिर झुक गया। मेरे होंठोंपरसे हाथ हटा कर वह बोली—"आज कहाँसे इतना विष तुमने उगल दिया? मुझे तो स्वप्नमें भी अनुमान नहीं था कि मेरे प्रति ऐसी कोई दुष्ट धारणा तुम्हारे मनमें छिपी होगी? तुमने कैसे यह समझ लिया कि मैं तुम्हारी अहितेच्छु हूँ? तुम बीमार पड़े। लोग क्या कहेंगे, मैंने इसकी परवा नहीं की। सावित्रीकी भाँति मैं तुम्हें यमके मुँहसे....."

कहते कहते वह रुक गई सन्निपातके रोगीका प्रलाप जैसे ऊर्द्ध श्वासमें विलीन होकर खो गया हो। उसके चुप हो जानेका कारण मैं नहीं समझ सका। सिर ऊपर उठा कर देखा तो उसका मुख तमतमाया हुआ था। आँखें सूख चुकी थीं; किन्तु एक प्रकारकी घबराहट—दयनीय घबराहट—उनमें

दीखती थी। मैं तब समझ नहीं सका। अन्त तक नहीं समझ सका। रजनी मुझे यों देख रही थी जैसे डाकूकी पिस्तौलके आगे अपनी तिजोरी खोल कर कोई कंजूस टकटकी लगाए देखता रह जाता है। जीवन-भर कौड़ी-कौड़ी जोड़कर उसने तिजोरी भरी थी। सोचता है, कदाचित् डाकू उसे न लूटे। कदाचित् पिस्तौल दिखाना, तिजोरी खुलवाना परिहास-मात्र हो। रजनीके अन्तस्में इतने दिनोंसे जो एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ था, आज अकस्मात् उसीके मुँहसे प्रकट हो गया। परन्तु मैं, मूर्ख मैं उसे फिर भी नहीं समझ पाया।—क्षणभर वह मुझे देखती रही। फिर आँधीके अन्तिम झोंकेकी भाँति वहाँसे चली गई।

कई मिनटोंतक मैं वहीं खड़ा रहा। उसने क्या कहा था, मुझे उसकी चिन्ता नहीं थी। मैंने क्या कहा, यही विचार दिनभर मेरे मस्तिष्कमें समाया हुआ रहा।

सायंकालको दफ्तरसे पैदल ही लौटा।—एकाएक किसीने पुकारा। "मनोहर, जरा सुनो तो!" मुड़कर देखा तो सिरसे पैरतक आग लग गई। वही व्यक्ति था—कुमार,—जिसे लेकर मैं प्रदर्शिनीमें गया था। उस दिनके उपरान्त आज ही पहिली बार वह मुझे दिखाई दिया। इच्छा तो नहीं थी कि उससे बातें भी करूँ। किन्तु वह ताँगेमें था। मेरी बगलमें आकर उसने ताँगा रुकवा दिया। बोला—"घर जा रहे हो? आओ, तुम्हें छोड़ता हुआ निकल जाऊँगा।"

मैं जाकर उसीके साथ बैठ गया। न जाता, किन्तु एकाएक मुझे कुछ सूझा। मैं बड़ी तेजीसे कुछ सोच रहा था। भाग्यसे

यह अवसर मिला है। इस समय चूकना अच्छा नहीं। वह बोला—"उस दिन तुम ऐसे नाराज हुए कि आज दिखाई दिए। तुम्हारे भी, यार, मिज़ाजका ठिकाना नहीं लगता। मित्रोंमें यदि इतनी ही बातोंसे अनबन होने लगे, तो बेचारी मित्रताकी रक्षा कैसे होगी?"

यह और भी अच्छा हुआ, जो उसीने प्रसंग छेड़ दिया। मैं उसीकी ओर घूमकर बैठ गया। मैंने पूछा—"रजनी कहाँ है?"

"रजनी कौन?"

हम लोग बीच बाजारमेंसे होकर जा रहे थे। वहाँका कोलाहल, गाड़ी-घोड़ोंकी खड़खड़ाहट, इक्के-ताँगेवालोंका चीत्कार—ये तमाम आवाजें यदि वहाँ न होती तो निश्चय है कि मेरे हृदयकी तुमुल धड़कन उसने अवश्य सुन ली होती। लग रहा था कि आज अन्तिम बार चलकर हृदय टूट जायेगा। मैं इस प्रकार उसे घूर घूरकर देखने लगा, मानो भेदकर उसके मनतक पहुँच जाऊँगा।

"यह रजनी कौन है जी?'—कुमार विस्मयसे मेरी ओर देखकर पूछने लगा। फिर हँसकर बोला—"हाँ, हाँ, समझा, समझा। भई, वाहजी, मनोहर, रसिक बन गए हो मालूम होता है। सिविल मैरेज?—हैं?—हो गई कहीं तय?"

इच्छा हुई कसकर उसे एक तमाचा जड़ दूँ। प्रवंचक कहींका! फिर मुझे ही उल्लू बना रहा है। अपने आपको किसी भाँति संयत करके मैंने पूछा—"रजनीको तुम नहीं जानते?"

"यह भी खूब रही ! अजी, तुम्हारी रजनीको भला मैं क्यों जानने लगा ?"

मैंने बौखलाकर फिर पूछा,—"उस दिन नुमाइशमें तुमने जिससे मेरा प्रेमालाप कराया था, वह कौन थी ? तुम्हारी....?"

"अरे वह ? मान गया तुम्हें जी, मनोहर ! भूले नहीं हो ? लेकिन वह तो विपुला थी। यह रजनी अब कौन है ?"

मैं भूल गया कि यह बाजार है। हजारों आदमी हमें इधरसे जाते हुए देख रहे हैं। भूल गया कि तागेमें बैठा हूँ; यदि गिर पड़ूं तो हाथ-पैरकी हड्डियाँ सरलतासे टूट सकती हैं। मैं लिपट पड़ा उससे। बोला—"सच कहते हो ? उसका नाम रजनी नहीं है ? क्यों ?—यही तो मैं भी सोचता था। क्या नाम बताया तुमने—विपुला ? हाँ, वही तो।—वह रजनी हो ही नहीं सकती। मैं जानता था—रजनी तो—"

और मुझे स्मरण हुआ कि विपुला तो विश्वविद्यालयमें पढ़ती है। रजनीको मैंने कालिज जाते कभी नहीं देखा था।

कुमारने ताँगा रुकवा दिया। बलपूर्वक मेरे आलिंगनसे अपने आपको छुड़ाकर बोला—"आओ, इस रेस्तूराँमें चाय पियेंगे। वहीं गपशप होगी। तुम्हें घर जानेकी जल्दी तो नहीं है ?"

मैं तत्काल बोल उठा—"नहीं जी, नहीं। जल्दी काहेकी ? घर-पर मेरे कौन है ? न जोरू न जाँता, अल्ला मियाँसे नाता।" मैं उससे पहिले बच्चोंकी भाँति उछल कर ताँगेसे उतर पड़ा। उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ-सा होटलकी ओर लिवा ले गया। वह ताँगेवालेसे बोला—"यहीं रुको। हम लोग चाय पीकर आते हैं।" मैंने

कहा—"नहीं इसे जाने दो। दूसरा ताँगा कर लेंगे। जरा आरामसे बैठें—बातें करें।" मैंने चट अपना बटुआ निकाल कर ताँगेवालेको एक रुपया दे दिया। कुमार बोला—"मैं तो दे रहा हूँ। तुम क्यों अपना खर्च करते हो? चार-पाँच आने उसे देने हैं। एक रुपया बहुत होता है।" मैंने कहा—"जैसे तुम्हारे पैसे, वैसे मेरे। बेचारा गरीब है। एक रुपया कौन ज्यादा होता है। जाओ जी, तुम!" ताँगेवाला प्रकट रूपसे एक हजार आशीर्वाद देता हुआ, और मन-ही-मन मुझे काठका उल्लू समझता हुआ चल दिया। हम दोनों होटलके अन्दर गए। मैं बड़ा प्रसन्न था। प्रसन्नताका आवेश मुझपर सवार था। होटलमें पहुँच कर उसके कहनेके पूर्व ही मैंने चाय और समोसेकी माँग रख दी। टेबिलपर आमने-सामने हम लोग बैठे ही थे कि मैंने पूछा—"तो उसका नाम रजनी नहीं है? तुमने क्या बताया?"

"विपुला।"

वह भौंचक्का-सा होकर मुझे देख रहा था। उसके विस्मयको मैं समझ गया। आजसे पहिले किसी भी व्यक्तिने मुझे इतना प्रसन्न नहीं देखा। चिड़ियोंकी भाँति चहक रहा था। स्वयं मैं चाहता था कि ऊपरसे थोड़ा बहुत गम्भीर दिखाई दूँ। परन्तु लगता कि मुखकी यह बाढ़ रोके नहीं एक सकती। मैं आर्डरपर आर्डर देता गया। एक प्लेट खतम होती, दूसरीकी माँग रख देता। मुक्तहस्त होकर खर्च करना चाहता था। जैसे आज उत्सव हो। कुमार स्पष्ट रूपसे घबरा गया था। मुझे लगा, सोच रहा है, चाय पीनेका प्रस्ताव उसीने किया। इसलिए यह तमाम पैसे उसीको देने

पड़ेगे। मैंने कहा—'तुम फिक्र मत करो। जितना बिल होगा, मैं चुकाऊँगा।"

वह सिटपिटा कर बोला—"अजी नहीं। मैं पैसे-वैसेकी बात नहीं सोच रहा हूँ। मैं तो देख रहा हूँ कि आज तुम्हें क्या हो गया है! भंग तो नहीं पिए हो?"

मैं ठहाका मार कर हँस पड़ा। स्मरण नहीं है क जीवनमें पहिले भी कभी उस प्रकार हँसा होऊँ। सोचा, इधर उधरकी बातें करनी चाहिए। किन्तु लौट-पलटकर फिर उसी प्रसंगपर पहुँच जाता था।

"किसकी लड़की है, विपुला?"

"एक बंगाली प्रोफेसर हैं, उनकी भतीजी है। माँ बाप नहीं हैं उसके। चाचा ही बचपनसे पालन-पोषण करते रहे हैं। आजकल वह यहाँ है भी नहीं।"

यह एक नई सूचना थी। मैंने उद्ग्रीव होकर पूछा—"कहाँ चली गई?"

"उसे यहाँसे गए डेढ़ महिना होनेको आया है।"

मुझे तो स्मरण हुआ कि रजनी तो आज प्रातःकाल ही मुझे मिली थी। मैं कुछ अनर्गल प्रलाप उसके सम्मुख कर बैठा था। एकाएक दिल बैठने लगा। रजनीको मैंने अकारण बुरा-भला कह दिया। वह निर्दोष थी। व्यर्थ ही इतने दिनों मेरी प्रतिहिंसाका विषय बनी रही। आज तो उसका हृदय टूट गया होगा। अपनी शुश्रूषाके प्रत्युपकारमें कृतज्ञता प्रकाश करनेके बजाय मैं तो उसका महान् तिरस्कार कर बैठा था।

" उसके चाचाकी पेंशन हो गई है। वे लोग सपरिवार बंगाल चले गए हैं...." कुमार कहता ही जा रहा था।

मैंने सोचा, आज रजनी चुन-चुन करके गुलाबके फूल लाई थी। आज मैं चारपाईसे उतर कर पहिली बार दफ्तर जा रहा था। रजनीके लिए यह दिन उत्सव हो गया। वह सत्यनारायणकी पूजा करनेको कहती थी। इतनी प्रसन्न थी, और मैंने उसकी प्रसन्नता जला कर भस्म कर दी। अब वह पूजा नहीं करेगी।

मुझे अन्यमनस्क देख कर वह उठा। बोला—" अब चलो, घर चलें।" उसने कोटके अन्दरकी जेबमें हाथ डाला। मैंने उसका हाथ थाम कर कहा—" नहीं, पैसे मैं दूँगा। अभी बैठो। तुम्हें भी घरपर कोई काम नहीं है। अकेले हो। चलो सिनेमा देखने चलेंगे।"

इससे पहिले कभी सिनेमा देखने गया होऊँ, मुझे स्मरण नहीं है। केवल पिछले वर्ष ही मुझे खेल-तमाशे देखनेका शौक सवार हुआ था। उसका फल भी मैं भोग रहा था। मैं सदासे अकेला ही रहता आया। संसार-भरकी भीड़ और कोलाहलमें मुझे कभी अपना मेल नहीं दिखाई दिया। लोगोंसे मिलने, सभाओं, होटलों, नाट्यगृहोंमें असंख्यों व्यक्तियोंके बीच घुल-मिल जानेमें मानो मेरे प्राण निकलने लगते थे। मेरी अपनी दुनिया मेरे अपने ही अन्दर लौह-प्राचीरोंसे वेष्टित होकर सिकुड़ गई थी। किन्तु आज न जाने क्यों मुझे लगा कि अब अकेले नहीं रह सकूँगा। यहाँसे घर जानेके विचारसे ही मन रो उठा। यहीं बैठा रहूँ। इसी प्रकार बाजारकी जनाकीर्णता और कोलाहलके बीच खो जाऊँ। कुमारका साथ छोड़नेको जी नहीं

चाहता था। उसने आनाकानी की। फिजूलखर्चीके दोष गिनाए। आजकल सिनेमामें अच्छे चित्र नहीं आते हैं। इससे अच्छा, घरपर आरामसे पुस्तकें पढ़ना चाहिए। मुझे सिनेमा ही देखनेका आग्रह नहीं था। मैं तो कुमारसे चिपक गया। पहिली बार संग-सुखका अनुभव मुझे हुआ था। नशा सा मुझपर छा गया।

सिनेमाके चित्रोंकी ओर मेरा ध्यान नहीं था। मैं बीच-बीचमें कुमारसे अनर्गल वार्तालाप करने लगता। इण्टरवलमें लेमनेड बेचनेवाले, पान, सिगरेट, मूँगफलीवाले, जो कोई वहाँ दीखते, मैं उन सबको बुलाता। कुमार तंग आ गया था। किन्तु मैं कहता, और खाओ। आसपास बैठे हुए लोगोंको देखकर मुझे बड़ा सुख मिल रहा था। उनके समूहमें मुझे एक प्रकारकी सुखद उष्णताका अनुभव होता। मानो मेरे अन्दर सब कुछ जमकर बर्फ बन गया हो। मैं लोगोंमें पैठकर बैठा रहना, कंधोंसे कंधा घिसकर जीना चाहता था।—सिनेमा खत्म हुआ, रातके बारह बज गए। मैंने कहा—"चलो, मेरे घर। वहीं बैठेंगे—गप्पें लड़ायेंगे।"

कुमार बोला—"अब नहीं, भाई, रात बहुत हो गई। नींद बहुत आने लगी है। हाँ, चलो तुम्हें घरतक छोड़ आऊँ।" वह ताँगा ढूँढ़ने लगा, तो मैंने पैदल ही चलनेकी प्रार्थना की। ताँगेमें हम लोग शीघ्र अपने-अपने घर चले जाते। मैं अधिक-से-अधिक समय तक उसीके साथ रहना चाहता था। रास्तेभर हम लोग चुपचाप चलते रहे। प्रारम्भमें जो प्रसन्नता मनमें थी, वह नहीं रह गई थी। चारों ओर फैले हुए अन्धकारकी ही भाँति मुझे अपने अन्दर भी घनी कालिमा उमड़ती हुई लग रही थी। कुमार

भी मानो ऐसा ही कुछ अनुभव कर रहा था। क्योंकि घर पहुँचने-तक वह एक भी शब्द मुझसे नहीं बोला। मैंने दरवाजा खोला। नौकर लालटेन धीमी करके खूँटीपर टाँग गया था। उसे तेज किया और कुमारसे बैठने कहा। वह बोला—"देर हो गई है, जाता हूँ।" वह टेबिलपर रखे हुए गुलाबोंको ध्यानसे देख रहा था। लालटेनकी रोशनीमें गुलाबोंपर एक विचित्र सौन्दर्य छा गया था। उसकी दृष्टिका अनुसरण करके मैं काँप उठा। सोचा, उसे अभी यहाँसे चला जाना चाहिए। उन गुलाबोंपर मेरी घायल भावना सो रही थी। उसकी दृष्टिमें मैं तड़प उठा। कृत्रिम अँगड़ाई लेते हुए मैंने कहा—"अच्छी बात है तो, नमस्कार!"

"नमस्कार!"—उसने कहा, और जाते जाते ठिठककर बोला—"आज तुम दुखी लगते हो, मनोहर। क्या बात है?—जीवनभर अकेले रहे हो। विवाह कर ही लो न?—मैं सीरियसली कह रहा हूँ—मज़ाक नहीं। उसकी दृष्टिमें सच्ची सहानुभूति थी। मैं अब उस भावकी खूब पहिचानने लगा था। मैं अपने आप आगे बढ़ा। उसके दोनों हाथ मैंने थाम लिए। इच्छा हुई, उससे लिपट जाऊँ। छातीसे लगा लूँ।—वह चला गया। उस रात जबसे मैंने होश सँभाले हैं, पहिली बार लगा कि मेरी आँखें अपने आप उमड़ रही हैं।

मैंने कपड़े नहीं उतारे। कमरेमें इधर-उधर चहल-कदमी करने लगा। अब समझमें आया कि घर क्यों नहीं आना चाहता था। आज पहिली बार मैं अपने आपको पहिचान गया कि अकेलेमें अपने व्यक्तित्वसे बचना असम्भव हो जायेगा। सारा

विष, अहंताकी सारी भीषणता आज स्पष्ट हो चुकी थी। आज एक निर्दोष व्यक्तिका मैंने अपमान किया। एक मुद्दत तक उसके विषयमें घृणा, द्वेष, जुगुप्साकी भावनाओंको हृदयमें पनपने दिया। कितने ही दिन, कितनी ही रातें मैंने मिथ्या प्रतिहिंसाकी आगमें तड़प तड़प कर बिताईं। किन्तु उसे तिरस्कृत करनेमें मुझे यह भी नहीं सूझा कि उसके अन्दर मुझसे अधिक सुकुमार हृदय है। उसे अधिक दुःख होगा। क्यों कि स्नेहके बदलेमें वह स्नेहकी ही आशा करती थी। उसकी विश्वस्त भावनाको मैंने कुचल कर चूर कर दिया।—सोचा, प्रातःकाल होते ही उसके घर जाकर क्षमा-याचना करूँगा। पूरी कहानी सुना दूँगा। कितना भारी बुद्धिहीन हूँ, यह भली भाँति समझा दूँगा। वह फिर भी रुष्ट ही बनी रहेगी, तो खुशामद करूँगा। उसके चरणस्पर्श कर लूँगा। कोई कहेगा, भावुक मूर्ख है। कहने दो। क्या हानि है? उसने मुझे जीवन-दान जो दिया है।—मुझे लगा वह क्षमा नहीं करेगी। जब इतने दिनों तक उसे ग़लत समझ कर मैं स्वयं उसे क्षमा न कर सका, तो उससे यह आशा करनेका अधिकारी मैं कैसे बन जाऊँ? क्षमाकी मुझे आवश्यकता है। नहीं तो जीवन दुरूह बन जायेगा। क्षमा—अनन्त करुणामयी क्षमा! आज समूचे विश्वमें दूसरा कौन होगा, जिसे उसकी इतनी अधिक आवश्यकता हो? आत्मग्लानिका ऐसा भीषण दावानल और किसके अन्दर धधक उठा होगा?

नींद नहीं आ रही थी। मैं उसी भाँति प्रातःकालके ही कपड़े पहिने हुए कमरेमें टहलता रहा। आजकी सी बेचैनी और घबराहट मुझे कभी नहीं हुई। मेरे अन्दर एक अव्यक्त आशंका

बारम्बार उठ रही थी। दो बज चुके। कमरेमें अकेली लालटेन बहुत गरम होनेके कारण धप्-धप् करने लगी। समूचा कमरा अनुप्राणित-सा हो उठा। मानो असंख्यों अर्द्धदृश्य चमगीदड़ कमरे-भरमें फड़फड़ाते हुए उड़ने लगे हों। टेबिलपर गुलाबके फूलोंमें एक विचित्र चंचलता-सी दिखाई दी। मानो वे फूलदानमेंसे उठ-उठकर भाग जाना चाहते हों। मैंने रोशनी बुझा दी। अँधेरा छा गया।—कहींसे धीमा-सा क्रन्दन सुनाई दिया, और चारों ओरका अन्धकार मानो एक साथ तड़प उठा। रोमांच हो आया। डर-सा लगने लगा। लालटेन फिरसे जला देनी चाही। अँधेरेमें इधर-उधर दियासलाई टटोलने लगा। नहीं मिली। जाकर चारपाईपर बैठ गया।—कोई फिर रो उठा! अबकी पहिलेसे अधिक ऊँचा स्वर था। कूट-कूटकर दुःख और वेदना भरी हुई थी। मेरा हृदय डूबने लगा और उसी समय किसीने बाहरसे दरवाजेपर जोरसे धक्का दिया—

"बाबूजी, मनोहर बाबू!"

मैं उसी अँधेरेमें चारपाईपरसे उछल पड़ा। जैसे कोई पिशाच मुझपर झपट पड़ा हो। घिग्घी बँधे कण्ठसे मैंने पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, हुजूर, कल्लू—जरा खोलिए।"

मैनेजरका नौकर! झपटकर उठा और दरवाजा खोल दिया।

"क्या है रे?—क्या बात है?—इतनी रातको—"

"बाबूजीने भेजा है, हुजूर। बुलाया है, आपको। मैं पहिले

भी आया था। आप कहीं गए हुए थे।"

मैंने कहा—"आज सिनेमा देखने गया था। क्यों, खैरियत तो है?"

"नहीं, हुजूर—" उसने भर्राये गलेसे कहा—"बिटियाको कुछ हो गया है, हुजूर। डाक्टर साहब हैं। सभी लोग हैं। आपको भी बुलाया है।"

पैरोंके नीचेकी पृथ्वी हिल उठी। भूकम्प आ गया। मैं तीरकी भाँति उसके पाससे होकर बाहर दौड़ा। वह बोला—"ताल लगा दीजिए।" मैं तब तक मैनेजरके घरमें घुस चुका था।

रजनी पलंगपर बेहोश पड़ी हुई थी। डाक्टर स्टेथस्कोपसे देख रहे थे। नीचे फर्शपर मैनेजर साहब पालथी मारकर बैठे हुए थे। एक कोनेसे सिसकने और क्षीण कण्ठसे रोनेकी आवाज़ उठी। देखा, रजनीकी माँ सिमटी हुई वहाँ बैठी हैं। आज पहिली बार उन्हें देखा था। और वह भी ऐसे समय! हाँफते हुए मैंने पूछा—"क्या हुआ मैनेजर साहब?"

अभिभूत-से आँखें फाड़-फाड़कर वह मुझे देखने लगे। डाक्टर बोला—"सेरेब्रो स्पाइनल फीवर। वही जो आपको हुआ था। संक्रामक होता है। किन्तु अत्यधिक मानसिक उत्तेजना होनेपर इसके जीवाणु एकदम आक्रमण करते हैं। असाध्य है। देखिए, यह रात कट जाय। आप तो हजारोंमें एक थे, जो नौ दिन बाद भी बच गए। यहाँ तो—देअर इज़ नो होप!—देखिए ईश्वरके हाथमें है—"

इच्छा हुई, गला घोंटकर मार डालूँ कमबख्त डाक्टरको। रोगीके समीप ऐसी बातें बक रहा है। मुझे रजनीके कहे शब्द याद आए। "बाबूजी सदा यही कहते हैं कि तुम हजारोंमें एक हो।—सावित्रीकी भाँति मैं तुम्हें...."—और, जिस प्रकार भाद्रपदके आकाशमें बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार मेरे मस्तिष्कमें तत्त्वज्ञानकी एक भीषण तरंग जाग उठी। मैं उसी एक क्षणमें सब कुछ समझ गया। जो सूर्यके प्रकाशके समान स्पष्ट था; जो अत्यन्त सुबोध था; जिसे संसार अनादिकालसे समझता आया है; पशु, पक्षी, कीट-पतंग जिसे सृष्टिके आदिसे स्वाभाविक सत्य समझते आये हैं; उसीको मैं तब तक नहीं समझ पाया था। मैं सिरसे पैर तक काँप उठा। श्रीकृष्णके विश्वरूपकी भाँति उस विराट् सत्यको देखकर मेरी आँखें झुक गईं। मेरी आँखें खुल गईं!

डगमगाते पैरोंसे मैं रजनीके सिरहाने पलंगपर ही जा बैठा। जवान लड़की है; बाप बैठा है। माँ देख रही है; डाक्टर सामने है। क्या कहेंगे ये लोग? मुझे यह चिन्ता नहीं थी। अभी कुछ दिन पहिले वह भी इसी प्रकार मेरे समीप बैठी रहती थी। उसने भी ध्यान नहीं दिया था कि दुनिया क्या कहेगी!

मैनेजर तो उल्टे कहने लगे—"ठंडी पट्टी रखते जाइए, मनोहर बाबू।" मुझपर इतना विश्वास था उनका! अपनी पत्नीसे बोले—"तुम जाओ बच्चोंके पास। ये आ ही गए हैं। हम दोनों अब काफी है तीमारदारीको।"—उस दिन मैं समझा कि किस ग़लत तरीकेसे मैं इस परिवारका अपना आदमी बन गया था। दोनों ओरसे यह ग़लती हुई। मैंने भी उन्हें समझनेमें अन्त तक

भूल की, और वे भी मेरे वास्तविक रूपको नहीं समझ पाये। भ्रान्तिके इस विशाल विषवृक्षमें आज फल लग आये हैं। मैंने ही उसे बोया, मुझे ही उसका भोग करना बदा है।

—उसके बाद, मृत्यु और मेरे बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ। कुल सात घंटे—अधिक नहीं। जिन्दगी मेरी ओर थी, मौत रजनीकी ओर। मैनेजर उस रस्साकसीके दर्शक थे। मैं तो चलनीमें पानी भर कर मानसरोवर उलीचना चाहता था। सफलता नहीं मिली। जहाजमें इतना बड़ा छेद हो गया था कि डूबनेसे बचाना असम्भव था।—मैंने रजनीका सिर अपनी गोदमें ले लिया। जीवनकी शक्तियाँ तेजीसे बही जा रही थीं। प्रातःकाल नौ बजे उसके गलेमें कफ बोलने लगा था। वह बड़े जोरोंसे खींचकर साँस लेती। प्रत्येक बार उसके शरीरकी नस-नस तन जाती। शून्यमें बारम्बार हाथ फैलाकर अंगुलियोंसे कुछ पकड़ना चाहती। साढ़े नौ बजे एकाएक उसे पसीना आया, और शरीर बरफकी भाँति ठंडा पड़ गया। मैं चीख पड़ा—"मैनेजर साहब, डाक्टर बुलाइए!"

जहाज डूबा जा रहा था। मृत्युकी महा तरंगें उसे लील जाना चाहती थीं। मैनेजर उठे। शान्त, गम्भीर। मेरे पास आकर बैठ गए। लड़कीका एक हाथ उन्होंने अपने हाथमें ले लिया। उन्होंने दुनिया खूब देखी थी। जीवन-मरणका नाटक आद्यन्त उन्हें याद था। बोले—"अब डाक्टरकी जरूरत नहीं है, मनोहर!"

उसी समय रजनीने अन्तिम बार अपनी आँखें खोलीं। एकदम नीलीं, चमकती हुईं! आशाकी एक लहर मेरे मनपर खेल गई। मैनेजर बोले—"रजनी, बेटी!"

मैंने पुकारा—" रजनी ! —मैं क्षमा जो माँगने आया हूँ । "

मैनेजरने चौंककर मेरी ओर देखा । वे नहीं समझ सके ।

एकाएक रजनीके गलेमें घड़घड़ाहट-सी हुई । एक तेज़ चीख कमरे-भरमें गूँज उठी,—" मनोहर दादा ! "

वह जिन्दगीका चीत्कार था । मरते हुए हरिणकी कराह थी । मृत्युरूपी भेड़िएके तीखे दाढ़ गलेके आरपार हो चुके थे ।

मैनेजर बड़बड़ाये ।

" देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं, यौवनं, जरा...."

कटेहुए पेड़की भाँति जननी उसकी देहपर गिर पड़ी ।

" तथा देहान्तरप्राप्तिः—"

मैनेजरने पत्नीको ढकेल कर एक ओर कर दिया ।

" पागल हुई हो ? यह तो मिट्टी है ! जो चली गई, वह महा-लक्ष्मी थी । हम पापियोंके घर उसे रहना पसन्द न था—"

" आओ मनोहर, उसे नीचे उतार दें । "

हम दोनोंने उसे उठा कर नीचे रख दिया ।

" अन्तवन्त इमे देहाः—"

उसकी माँ धाड़ मार-मार कर रो रही थी । मैनेजर मेरे पास आकर बैठ गए । बोले—" बुद्धिहीन हैं सब लोग !—क्यों हैं न ? "

उस समय प्रातःकालके दस बजे थे । शामको चार बजे हम लोग उसे जला कर लौटे ।

जाती बार मैं फूलदानमेंसे गुलाबके सब फूल निकाल कर ले आया था । चिताकी आकाशको छूती हुई लपटोंपर मैंने उन्हें फेंक दिया ।

"सब। लाल, पीले और सफेद,--सब जल गए।--"

कहते-कहते मनोहरने सिगरेटका ऐसा कश खींचा कि उसे जोरोंकी खाँसी आ गई। सुराहीमेंसे निकाल कर मैंने उसे पानी दिया। दो चार घूँट पीकर वह कहने लगा--

"बुरी चीज़ है यह सिगरेट। तुम तो एजेण्ट हो इसीके। तुमसे क्या कहूँ?—छोड़ दो भई, यह पेशा। अभी मुझे पानी न मिलता तो प्राण ही निकल जाते—

"हाँ तो--मैंने और मैनेजर दोनोंने नौकरी छोड़ दी है। उस शहरमें रहना हमें असम्भव हो गया था। इसी गाड़ीसे वे भी सपरिवार घर जा रहे हैं।"

मनोहर चुप हो गया। मैंने चाहा, समवेदनाके दो चार शब्द कहूँ। किन्तु वह सब व्यर्थ होता। दुःखकी भाषा तो मौन है। बाराबंकी पहुँचनेतक वह नहीं बोला। ज्यों ही स्टेशनपर गाड़ी रुकी त्यों ही वह उतरकर एक ओर चला गया। बोला--"उन्हें बाहर पहुँचाकर अभी आ रहा हूँ।"

बिजलीकी रोशनीमें पाँच व्यक्तियोंको प्लेटफार्मपर जाते हुए मैंने देखा। दो छोटे-छोटे बालक मनोहरकी अँगुलियाँ पकड़े हुए और एक अधेड़ सज्जन उसके कन्धेपर आधे लटके हुए-से चल रहे थे। उनके पीछे एक महिला थीं। सबके पीछे चार कुली थे, बड़े-बड़े सन्दूक और बण्डलोंको सँभाले हुए। मनोहरने एक बार मुड़कर इसी डिब्बेकी ओर देखा। फिर वे लोग आँखोंसे ओझल हो गए।

गाड़ीने सीटी दी। उधरसे मनोहर दौड़ता हुआ आया और मेरे पास आकर बैठ गया। हाँफते हुए बोला--"देखो तो, मेरी आँखोंमें आँसू तो नहीं दिखाई देते?"

मैंने कहा—" नहीं। "

कहने लगा--" वही तो ! इन आँखोंमें भला आँसू कहाँ ? —बाहर पहुँचे ही थे कि मैनेजर मेरी बाँह पकड़कर एक ओर ले चले। ऊपरकी ओर अँगुली उठाकर बोले—

" तुम्हें उसकी शपथ है, जो मर गई। बोलो, तुम उसे प्यार करते थे ? "

मैंने विना हिचकके ' हाँ ' कह दिया।

बोले--" वह भी तुम्हें चाहती थी ? "

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

बोले—" तुम उसे नहीं समझ सके थे, क्यों ? मैं सब जानता था। बड़ा सुखी था मैं यह जानकर। मैंने तुम्हारे परोक्षमें ही तुम्हारे गोत्र इत्यादिका पता लगा लिया था। लड़कीके लिए वर चुननेकी आवश्यक चिन्ता मुझे नहीं रह गई थी।--खैर। वह तो चली गई। लेकिन तुम अब विवाह कर लेना। समझे न ? यही मुझे कहना था। बस--जाओ। "

गाड़ी चलने लगी तो मनोहरने फिरसे सिगरेट जलाई। बहुत देरके उपरान्त मेरी ओर देखकर बोला--

" मुझे लगता है, मैनेजर पागल हो गए हैं! "